।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।।   ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।   ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

सद्गुरुदेव

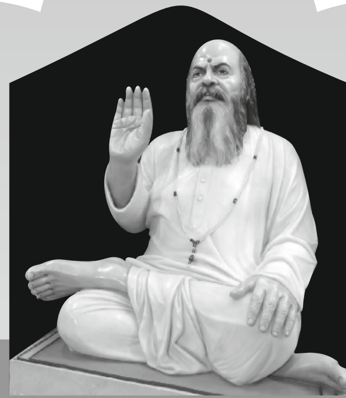

यौगिक प्रश्नोत्तरी

भाग-1

योगयोगेश्वर अनन्तविभूषित सद्गुरुदेव
योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के
स्वहस्त लिखित विशेषलेख
यौगिक प्रश्नोत्तरी एवं योगेश्वर चरित्रमाला

ज्ञान गोष्ठी- जिज्ञासायें और समाधान

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

(प्रस्तुत अङ्क से 'सिद्धयोग' मे हम 'ज्ञान-गोष्ठी' नाम से एक नया स्तम्भ आरम्भ कर रहे हैं। पाठकों और साधकों द्वारा प्रेषित की गई जिज्ञासायें तथा उन जिज्ञासाओं का श्री गुरुदेवजी द्वारा किया गया समाधान जो अतीव ज्ञानवर्धक और उपयोगी होगा हमारे इस स्तम्भ का विषय होगा। पाठकों और साधको से अनुरोध है कि वे अपनी-अपनी जिज्ञासायें अथवा प्रश्न समाधान हेतु श्री गुरुदेव जी को या सम्पादक 'सिद्धयोग' के पते पर भेजते रहने की कृपा करें ताकि उनका समाधान शीघ्र प्रकाशित होता रहे।)

श्री गुरुदेव जी लिखते हैं—

हाल ही में आगरा से हमारे 'सिद्धयोग' के सह सम्पादक श्री पं. देवीप्रसाद जी शर्मा दिव्य' आये उन्होंने निम्नांकित दो प्रश्न किये जिनको मय उत्तर के नीचे दिया जा रहा है :—

प्रश्न : प्रश्न जी गीता के छठे अध्याय में एक श्लोक आता है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात् योगी का दर्जा तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्म-काण्डियों से भी उत्तम बताया गया है। यहाँ पर 'योगी' शब्द से किस प्रकार के योगी का ग्रहण है और उसकी परिभाषा क्या है?

उत्तर : यहाँ पर इस श्लोक में योगी को सर्व श्रेष्ठ बतलाया है। यहाँ पर जगदात्मा का आशय युक्त योगी से है। भगवान् ने श्रीमद् भगवद्गीता में योगियों को 'युञ्जन योगी' एवं 'युक्त योगी' कह करके दो प्रकार के योगी कहे हैं। युञ्जन योगी वह कहलाते हैं जो अपने ध्यान योग का अभ्यास रूप तदिष्ट मार्ग से करते रहते हैं और युक्तता को पाने के प्रयत्न में रहते हैं। इस प्रकार के योगियों को युञ्जन योगी कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग सब प्रकार से परिपूर्ण हैं व आप्त काम हैं उनको युक्त योगी कहा गया है। युक्त योगी का लक्षण भगवान् ने गीता में इस प्रकार कहा है :—

श्लोक : ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थोविजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टश्मकाञ्जनः।।

श्लोक का अर्थ इस प्रकार है जिसका आत्मा ज्ञान व विज्ञान से परिपूर्ण है अर्थात् पूर्णरूपेण तृप्त है और जो विकार रहित स्थिति में पहुँच गया है जिसने अपनी इन्द्रियों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण कर लिया है उनके बारे में स्पष्ट रूप से कह दिया है :-

जिसकी दृष्टि में लोहा, सोना, मिट्टी सब बराबर हैं ऐसे योगी को युक्त योगी कहते हैं। ऐसे श्रेष्ठ योगी का दर्जा सब प्रकार के कर्म-काण्डियों और ज्ञानियों से श्रेष्ठ है। ज्ञान शब्द 'ज्ञा' अवबोधनी धातु से बनता है इसका अर्थ होता है किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञाता तथ्य जानना और 'कर्म-काण्ड' शब्द का अर्थ है विविध प्रकार के क्रियाकलाप के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना। ऐसे व्यक्तियों को 'कर्म-काण्डी' कहा जाता है। जो लोग कर्मों के रहस्य को समझकर कर्म-परायण बने रहते हैं उनका स्थान ज्ञानियों से नीचा है। और ज्ञान लोग 'ज्ञा' अवबोधने से अवबोधन तक पहुँचते हैं इसका अर्थ होता है किसी वस्तु को जाने लेना। इसलिये जान लेने मात्र से पूर्णता की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये उनका दर्जा भी युक्त योगियों से नीचा ही रहता है। शुद्ध तत्त्व में प्रवेश या पूर्णरूपेण स्वरूप स्थिति केवल मात्र युक्त योगियों को ही होती है। भगवान् ने गीता में इन तीनों भावों का संकेत करते हुए स्पष्ट रूप से कह दिया है :—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मितत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

अर्थात् भक्तों की साधना करते हुए मनुष्य मुझे जान लेता है कि मैं कितना क्या और कैसे तत्त्व से हूँ, इस प्रकार मुझे तत्त्व से जानकर योगी मुझ में प्रवेश कर जाता है अर्थात् लीन हो जाता है इसी का नाम युक्तता है। इसलिये तपस्विभ्योऽधिको योगी को सर्व श्रेष्ठ बतलाने का भगवान् का युक्त से ही अभिप्राय है।

प्रश्न : युक्त योगी का सामर्थ्य क्या होता है? और वह किस स्थिति में हर समय रहता है।

उत्तर : युक्त योगी सर्व सामर्थ्यवान होता है वह 'कर्त्तमकर्त्तु' अन्यथा कर्त्तु' की सामर्थ्यवाला का हर समय होता है। बने को बिगाड़ दे बिगड़े को बना दे जैसा भी उसके मन में संकल्प आये वह सब कुछ हो सकता है। और वह सदा-सर्वदा अपनी स्वरूप स्थिति में रहा करता है।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

एक साधक ने लिखा है:—

प्रश्न : महाराज जी कृपा करके आप शास्त्रीय ढंग से योग की परिभाषा समझाइये? आजकल संसार में देखने में आता है जो लोग थोड़े से आसन, बन्ध, मुद्राओं को सीख करके छोटी-छोटी व्यायामशालायें खोल लेते हैं, वह अपने आपको योगी एवं योगाचार्य आदि ऊँचे शब्दों से सम्बोधित कराते हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग भाँग-सुल्फा और गांजा आदि नशीले पदार्थं पीते हैं और प्रात: काल से लेकर सायं काल तक नशे की नींद में सोये रहते हैं वे भी अपने लिये योगी योगिराज आदि शब्दों का व्यवहार कराते हैं, यदि उनसे कोई कहे कि महाराज कोई योग की बात बतलाइये या कोई योग की शिक्षा दीजिये तो वे लोग उत्तर देते हैं वाह! वाह!! हम योगी अगड़ बम्म जन्मेगी दुनिया मूड़ेंगे हम। यदि उनसे कहें कि महाराज आप यह भांग, धतूरा सुल्फा, गांजा आदि पीते हैं ऐसा तो नहीं करना चाहिये तो वे लोग कहते हैं- वाह-वाह रे तू क्या जानता है 'हमारी ताकत को। चिलम चमेलीफूँक दे ठेकेदार की हवेली' यही उनके काव्य व मंत्र है। यदि उनसे कहें महाराज मंत्र बतलाइये? तो वे कहते हैं- सुन भाई मंत्र 'कानावाती कुर्रु तू चेला मैं गुर्र।' महाराज जी! बड़ा भारी गोरखधन्धा है। हमारी तो ठीक समझ में ही नहीं आता कि योगी किसको कहते हैं? जगह-जगह देखने में आता है बड़े-बड़े अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान भी योग से घृणा करते दिखलाई देते हैं कदाचित कहीं भक्त समुदाय में योग की बात चलती है तो वे लोग भी योग को रूखी सी विद्या बतला कर अपने भक्ति भाव को सही मानते हैं। ''कलौ नास्त्यैव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।'' इसलिये कृपा करके योग की परिभाषा समझाइये? ताकि हम सब यह जान तो लें कि वस्तुत: योग का सत्य स्वरूप क्या है?

उत्तर : योग की परिभाषा भगवान पतंजलि देव ने स्वयं अपने मुखारबिन्द से कही है उन्होंने कहा है :—

योगश्चित्त वृत्ति निरोध:

अर्थात् चित्त वृत्ति निरोधयो योग: यानी नितराम रोध: निरोध: चित्त वृत्तियों का सीमा तक पहुँच करके रुक जाना गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाना और आत्मा का केवली भाव को प्राप्त हो जाना ही योग है। दूसरे औपनिषदिक परिभाषा में योग: समाधि समाधि वैं: योग: योग नाम समाधि का है। समाधि को ही योग कहते हैं। 'समाधि-समतावस्था जीवात्म परमात्मन:' जीवात्मा परमात्मा की एकावस्था को ही समाधि कहते हैं जिस समय जीव अपने बुद्धि-बोध स्वरूप को छोड़कर के अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है वही उसकी स्वीया स्वरूप स्थिति है और उसी का नाम योग है।

प्रश्न : क्या योगाभ्यास करने वाले योगी को कोई आनन्द आता है? और वह आनन्द कैसा होता है? क्या वह आनन्द भक्ति में आने वाले आनन्द से अधिक होता है? कृपया महाराज जी! उस आनन्द के स्वरूप को भी बतलाइये?

उत्तर हाँ, योगी को बहुत बड़ा आनन्द आता है और वह आनन्द इतना बड़ा होता है जिसको प्राप्त करके और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।।

वह आनन्द इतना बड़ा होता है जिसको पाकर योगी महान्-से-महान् दु:ख आने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता। इसलिये योगी को जो आनन्द आता है वह बहुत बड़ा आनन्द होता है। वह केवल योगी को ही उपलब्ध होता है। भक्ति- भाव से आराधना करने वाले भक्त लोग जब ईश्वर को आत्म निवेदन करते हैं तो ईश्वर के अनुग्रह को पा करके उनका भी योग में प्रवेश हो जाता है और शनै: शनै: समाधि-सिद्धि होने लगती है और इस रुहानी आनन्द को प्राप्त होने लगते है। जैसे— नरसी मेहता, गोस्वामी तुलसीदास, मीराबाई आदि ऊँचे-ऊँचे भक्तात्मा हुए, उन्होंने अन्तर्मुखता को प्राप्त कर ही अपने आपको कृतार्थ बना लिया। योगदर्शन बतलाता है:—

'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।'

ईश्वर प्रणिधानात् भक्ति विशेषादावर्जित: ईश्वर तमन्धृणाति इदं अस्याभिमत: अस्तु

अर्थात् भक्ति विशेष से आवर्जित किया हुआ, (सामने किया हुआ) ईश्वर भक्त पर यह कृपा करता है कि उसे उसकी यह अभीष्ट वस्तु अर्थात् समाधि की प्राप्ति हो जाय, तब भक्तों को भी समाधि होने लगती है। यह ऋत नितांत-सत्य बात है कि संसार में किसी भी सिद्धान्तया मजहब का मानने वाला हो जब तक उसे योग नहीं आता तब उसको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसलिए आनन्द का श्रोत योग से ही बहता है।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

एक साधक ने एक दिन आकर विनीत भाव से कहा :—

प्रश्न : गुरुदेव! वैराग्य का क्या स्वरूप है? कृपा करके समझाइये। आजकल के साधुसमाज में भस्म रमाने वाले भांग-धतूरा खाने वाले, निश्चिन्त अलमस्तों की तरह पड़े रहकर अपने आप को विरक्त बतलाते हैं। क्या वैराग्य की यही परिभाषा है?

उत्तर : सौम्य! वैराग्य की यह परिभाषा नहीं। रामलीला और कृष्णलीला में राम और कृष्ण का अभिनय करने वाले लोग राम-कृष्ण नहीं बन जाते। वह तो राम-कृष्ण का स्वाँग ही रहता है। जो लोग अपनी लम्बी-लम्बी जटायें बढ़ाकर शरीर में विभूति रमाकर भांग-धतूरा खाते हैं और अपने को वैरागी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे मिथ्याचारी कहलाते हैं। अखिल लोक-पावन जगदात्मा श्री कृष्णजी ने स्पष्ट कहा है कि—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, यं आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

अर्थात् कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके जो लोग इन्द्रियार्थों का मन से चिन्तन करते रहते हैं वे लोग मिथ्याचारी कहलाते हैं, इसलिये जो साधु लोग भांग-धतूरा खाकर एवं लम्बी-लम्बी जटायें बढ़ाकर वैरागियों का वेष धारण करके मन से इन्द्रियार्थों का चिन्तन करते हैं वे लोग विरक्त नहीं प्रत्युक्त दम्भी कहला सकते हैं। सच्चा वैरागी वह है जो अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों के चिन्तन से दूर रक्खे। भगवान पतंजलिदेव ने अपने-योग दर्शन में वैराग्य की दो प्रकार की परिभाषायें लिखी हैं। उनमें से पहली संज्ञा वशीकार वैराग्य की है। दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् मनुष्य लोक में स्त्री अन्नपानादि, देखे हुए विषय और स्वर्ग लोकादि के सुने हुए विषय इन दोनों प्रकार के देखे सुने हुए विषयों से मन को हटा करके जो अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है वह व्यक्ति वशीकार संज्ञा का प्रतीक है जो मनुष्य वशीकार संज्ञक वैराग्य को प्राप्त कर लेता है उसका इन्द्रिय निग्रह इतना ऊँचा बढ़ जाता है, कि उसको कोई भी साधारण एवं असाधारण विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। और शनैः शनैः अभ्यास करता हुआ वह पवित्र साधक ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है उस की बुद्धि वृत्ति में सदा सर्वदा सत्य ही वास करता है। निर्वाणोन्मुखी वृत्ति का उदय होने लगता है। निर्वाणोन्मुखी वृत्ति सभी वृत्तियों का उपशमन करके आप भी अपने आप को भी समाप्त कर लेती है। और आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम पर-वैराग्य है।

भगवान् पतंजलिदेव ने पर वैराग्य की जो परिभाषा लिखी है वह इस प्रकार है :—

तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

अर्थात् वशीकार संज्ञा वाला योगी जब संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है तो स्वाभाविक ही गुण वितृष्ण हो जाता है। इस वैराग्य को पर-वैराग्य कहा है। इस वैराग्य को प्राप्त होने वाला योगी उन्मत्त स्थिति के अन्दर रहा करता है। ऐसे विरक्ति का स्वरूप समझाते हुए श्री भर्तृहरिजी महाराज ने अपने वैराग्य-शतक में एक श्लोक कहा है। शान्त भाव से खड़े किसी मुनि को देखकर सांसारिक मनुष्य तरह-तरह की कल्पनायें करते हैं। वे क्या सोचते और कहते हैं यह भर्तृहरि जी के शब्दों में सुनिए :—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा, शूद्रोऽथ किं तापसः।
किंवा तत्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरा कोऽपि किम्।।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जैन-
र्नक्रुद्धाःपथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।।

अर्थात् कोई मनुष्य कहता है कि यह चांडाल है या कोई द्विजाति है अथवा शूद्र तपस्वी है या तत्त्व की छान-बीन में लगा हुआ कोई योगेश्वर है। इस प्रकार की विविध प्रकार की लोगों के मुख से वाणियाँ निकलती हैं किन्तु न उस योगी को क्रोध आता है न किसी पर प्रसन्न होता है, वह अपने आत्म-भाव से स्थित है। इसलिए इस प्रकार का सन्त पर-वैरागी कहता है।

प्रश्न : गुरुदेव जी! क्या यह वैराग्य साधना साध्य है अथवा मनुष्य के हृदय में अनायास पैदा हो जाया करती है?

गुरुदेव! आपने वैराग्य की परिभाषा तो समझा दी किन्तु

वैराग्य प्राप्ति के साधन नहीं बताये कृपा करके वैराग्य प्राप्ति के साधन और बताइए।

उत्तर : सौम्य! वैराग्य प्राप्ति के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता अन्तर्मुखता की है। क्योंकि जो साधक अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को बंद करके अन्तर्मुखता को प्राप्त हो जायेगा। वह दिव्य दृश्यों का दृष्टा बन जायेगा और इस रूहानी जगत में वह इतने उत्तम दृश्य देखेगा जिनका उसको बाह्य जगत में कभी अनुभव भी नहीं हुआ होगा। जब उसके सामने इस प्रकार के दृश्य आयेंगे तब उसको बाह्य दर्शन से स्वाभाविक वैराग्य हो जायेगा। इस प्रकार से ज्यों-ज्यों योगी अध: भूमियों को छोड़कर उत्तर भूमियों में प्रवेश करेगा त्यों-त्यों अध: भूमियों से उसका स्वत: वैराग्य बढ़ता चला जायेगा और इस प्रकार से वह साधक शनै: शनै: अभ्यास को बढ़ाता हुआ पर-वैराग्य को प्राप्त कर लेगा। इसके अतिरिक्त साधक को चाहिए कि अपने नैत्यिक नियमों का नियमानुवर्तिता से पूरा-पूरा पालन करें। जो मनुष्य अपनी नियमानुवर्तिता के अनुसार अपने पूरे दिन चर्या को यथार्थता से निवाहता है उसका मन व्यस्त रहता है अपने कार्यों में संलग्न रहता है इसलिए वह अन्य विषयों का चिन्तन कर ही नहीं सकता। उसको इतना अवसर ही नहीं मिलेगा जो वह अपने विषयों के अतिरिक्त इन्द्रियार्थों का चिन्तन करें और इस प्रकार के अभ्यास से इन्द्रियार्थों के चिन्तन छूट जाने के बाद इन्द्रियों का राग भी शनै:-शनै: छूट जायेगा, और वह वैराग्य भाव को प्राप्त हो जायेगा। कुछ और इस प्रकार के नियम हैं, जिनका पालन करता हुआ मनुष्य इन्द्रिय लौल्य से बच जाता है, वे हैं—

नैत्यिक व्यायाम— नैत्यिक व्यायाम करने से वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है और इन्द्रियों की चंचलता हट जाती है।

नैत्यिक स्वाध्याय— नैत्यिक स्वाध्याय नियम से करने से रज और तम के विकार दब जाते हैं। रज और तम ही इन्द्रियों की चपलता को बढ़ाने के गुण हैं। सत्त्व में स्वाभाविक शान्ति प्रकट हो जाया करती है विशुद्ध ज्ञान एवं पवित्र प्रेम का प्रकाश होता है और इस प्रकार दिन-प्रतिदिन विशुद्ध प्रेम के बढ़ने से वासनात्मक राग मिट जाता है। इस साधना के साथ मनुष्य को अपने आहार-विहार पर संयम रखना चाहिए। हमारे शास्त्र का नियम है कि :—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति।

जिसका आहार शुद्ध होगा उसका सत्त्व शुद्ध होगा और जिसका सत्त्व शुद्ध होता उसकी समाधि निश्चित है। और आहार भी नियमानुसार करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है :–

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् जो मनुष्य अपनी दिनचर्या को पूरी तरह निभाता है जिसका खानपान समय पर होता है जो ठीक समय पर सो जाता है और ठीक समय पर जग जाता है उसके लिए योग सदा सुखदाई हुआ करता है। यही सब सहज सरल साधन है जिनको पा करके मनुष्य वैराग्य को प्राप्त होता है। वीतराग पुरुषों की उपासना करना सर्वं साधारण के लिए और भी उपादेय वस्तु है जिससे अवश्य वैराग्य की प्राप्ति होगी।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव। दीक्षा शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर : सौम्य! दीक्षा शब्द में 'दीयते' और 'क्षीयते' दो क्रियाओं का प्रयोग होता है। इसका अर्थ है कि जिस क्रिया के करने पर शुद्धात्म प्रकाश अर्थात् ज्ञान दिया जाय और अज्ञानान्धकार का नाश किया जावे, उसी क्रिया को दीक्षा शब्द से कहा गया है। जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपक जलाता है और उस दीपक के जलाने पर प्रकाश तो होता ही है। प्रकाश होने के साथ-साथ ही अन्धकार का नाश भी होता है। इसी प्रकार आत्म-शक्तिमान श्री गुरुदेव किसी को दीक्षा प्रदान करते हैं उसके अज्ञानान्धकार का नाश करते हैं और शुद्ध आत्म-तेज का प्रकाश करते हैं। अत: इस क्रिया का नाम दीक्षा है।

प्रश्न : दीक्षा किनते प्रकार की होती है?

उत्तर : तंत्र शास्त्रों में दीक्षा के बहुत से भेदों का वर्णन मिलता है। उनमें से योगिराज लोग प्राय: शाम्भवी दीक्षा द्वारा ही लोगों का कल्याण करते हैं, उसका लक्षण इस प्रकार है।

गुरोरालोक मात्रेण स्पर्शात्संभाषणादपि।
सद्यस्संज्ञ भवेज्जन्तो: पाशोपक्षयकारिणी।।
सा दीक्षा शाम्भवी स्मृता।।

अर्थात् श्री गुरुदेव के देखने मात्र से या स्पर्श करने से या वाणी के उच्चारण करने मात्र से जीव को तत्काल बोध हो जाय यह पाशोपक्षयकारिणी शाम्भवी दीक्षा कही गई है।

अर्थात् स्पर्श दीक्षा, दृग दीक्षा, एवं वाग्दीक्षा करके शाम्भवी दीक्षा के अलग-अलग भेद हैं। उनको इस प्रकार समझ लेना चाहिए।

दृग-दीक्षा :—

गुरोरालोक मात्रेण सद्यस्संज्ञा भवेज्जन्तो:
सा दीक्षा दृग दीक्षा इति,

अर्थात् गुरुदेव के देखने मात्र से शिष्य के हृदय में तत्काल ज्ञान का उदय हो जाय। इस क्रिया का नाम दृग-दीक्षा कहा गया है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में नेत्रों की शक्ति का बहुत बड़ा वर्णन मिलता है। आज भी भारतवर्ष में यह रिवाज है कि जब कोई गृहस्थी किसी महात्मा को अपने घर ले जाना चाहता है तो वह उनसे प्रार्थना किया करता है कि महाराज आपके पदार्पण करन से मेरा घर पवित्र हो जायेगा। आपके दृष्टिपात से मेरे घर के सब संकट मिट जायेंगे। आपकी नजर दौलत है। इत्यादि शब्दी उस महात्मा की आँखों की शक्ति की ओर संकेत करते हैं। उनकी नेत्रों को ताकत उतनी होनी चाहिये। इस प्रकाश नेत्रों की बढ़ी हुई शक्ति के द्वारा जो गुरुदेव अपने शिष्यों में शक्ति-संचरित करते हैं उसका नाम दृग दीक्षा है।

स्पर्श-दीक्षा: —

हमारे देश का रीति-रिवाज है छोटे बच्चे अपने बड़ों को चरण-स्पर्श करके नमस्कार करते हैं और बड़े बूढ़े अपना कर-स्पर्श करके उनको आशीर्वाद दिया करते हैं। यह प्रथा केवल भारतवर्ष में है अन्य किसी देश में यह प्रथा नहीं है। क्योंकि विदेशी लोग हमारे पूर्वजों की चलाई इस प्रथा के महत्व को समझते नहीं। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति में लिखा है :—

नित्याभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपि सेविन:।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोवलम्।।

अर्थात् जो लोग अपने बड़े-बूढ़ों को नमस्कार करते हैं और उनकी सेवा करते हैं उनकी आयु, विद्या, यश और बल शरीर में बढ़ते रहते हैं। जो मत अपनी मानस शक्ति को बढ़ा लेते हैं उनके स्पर्श के द्वारा उनके शिष्यों हृदयों में शक्ति का संचार होता रहता है। इसी का नाम स्पर्श-दीक्षा है। उज्जैन के भर्तृहरि आश्रम में लगभग तीस वर्ष पहले डॉक्टर दुर्गाशंकर नाम के एक ब्राह्मण करस्पर्श के द्वारा अनेकों प्रकार के रोगियों के रोगों का उपचार किया करते थे और उसके फलस्वरूप अनेक रोगियों ने बिना किसी दवाई के लाभ प्राप्त किया। यह डॉक्टर साहब की बढ़ी हुई विशेष शक्ति का प्रभाव था। अत: जो योगी अपने कर स्पर्श के द्वारा अपने शिष्यों के हृदय में शक्ति संचारित करे उसका नाम ही स्पर्श दीक्षा है।

वाग्दीक्षा :—

योगी के मानस क्षेत्र में विकसित हुई मानस-शक्ति मनुष्य समाज पर अपना प्रभाव दिखलाने के लिए, नेत्रों के द्वारा,

स्पर्श के द्वारा या वाणी के द्वारा प्रस्फुटित हुआ करती है। जिस व्यक्ति ने अपने मानस क्षेत्र को जगाकर उसमें भली प्रकार शक्ति का संचय किया है, वह यदि वाणी से कुछ उच्चारण करता है तो उसकी वाणी का प्रभाव तत्काल प्राणीमात्र पर हो जाया करता है। जिस योगी के मानस क्षेत्र में इस प्रकार की शक्ति बढ़ी हुई है यदि वह अपनी वाणी द्वारा कोई मन्त्र प्रदान करके अपने शिष्यों पर शक्तिपात करता है उसी का नाम वाग्दीक्षा कहलाता है। यह तीन प्रकार की दीक्षायें शाम्भवी दीक्षायें कहलाती है। इसके अतिरिक्त संकल्प-दीक्षा, मानस-दीक्षा आदि और भी अनेक भेद हैं। किन्तु शक्तिपात दीक्षायें भगवान शिव से उपदिष्ट इस शाम्भवी दीक्षा को ही प्रधानता दी गई है और इसी के द्वारा अधिक जनहित होता है।

प्रश्न : दीक्षा क्यों ली जाती है परिणाम में उसका क्या फल मिलता है? स्पर्श दीक्षा, दृग-दीक्षा, मानस-दीक्षा आदि तो स्वभाव से ही हर महापुरुष की ओर से होती ही रहती हैं फिर हम किसी विशेष विधि के साथ किसी को धूप दीप, नैवेद्यादि अर्पण करके षोडसोपचार पूजा पद्धति करके विशेष रूप से गुरु दीक्षा क्यों प्राप्त करें क्यों गुरु बनावें। इससे क्या विशेष लाभ होगा? जब कि महापुरुषों के सामने जाने से ही हमारे सब काम अनायास हो जाते हैं।

उत्तर : लाभ होगा। और वह लाभ यह होगा कि उनके साथ 'मैं' 'मेरा' का सम्बन्ध जुड़ जायेगा। एक विद्यार्थी किसी विद्यालय में जाकर विद्यालय के नियमानुसार अपने आपको विद्यालय में प्रवेश करा लेता है तो वह उस विद्यालय का विद्यार्थी समझ जाता है। उसकी देख-रेख और संरक्षण का उत्तरदायित्व वहाँ के अधिकारी लोगों पर पूर्णरूपेण आ जाता है। वहाँ के अधिकारी यह समझते हैं कि यह हमारा छात्र है। इसको योग्य बनाना हमारा कर्त्तव्य है। इसी प्रकार अध्यात्म मार्ग में भी इस विद्या के केन्द्रीभूत आचार्य से जो अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। वह उनके आत्मीय बन जाते हैं और उन्हें आचार्य के नियमानुसार उनके विषयों में वृद्ध होकर चलना पड़ता है। क्योंकि वह समझते हैं कि यह हमारे गुरुदेव है। हमें इनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। एक स्थान पर एक शक्तिशाली महापुरुष आए हुए थे। उनके चरणो में सत्संगार्थ बहुत से स्त्री पुरुष आया जाया करते थे। उन सबके साथ में एक वैद्यराज भी आये थे वह बहुत शिव भक्त थे। योगिराज जी ने वैद्य के सद्व्यवहार को देखकर उन पर शक्तिपात किया। जिसके फलस्वरूप वह संप्रज्ञात योग के विद्यार्थी बन गये। उनको अपने ध्यान में बड़े-बड़े दिव्यानन्द प्रारम्भ हो गये। वैद्यजी ने अपनी दिव्यानुभूतियों को कहना प्रारम्भ कर दिया। मान-सम्मान के झमेले में पड़ गये। जब योगिराज जी ने देखा कि ये पतन की ओर जा रहे हैं तो उन वैद्यजी पर नियन्त्रण करना चाहा। किन्तु वैद्य जी ने उनके नियन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। और स्पष्ट शब्दों में उत्तर दे दिया कि आपने मेरी सहायता अवश्य की है, किन्तु आपसे मैंने कोई गुरु-दीक्षा तो ली नहीं। अत: मैं आपके नियन्त्रण को क्यों मानूँ। मैं अपनी हर क्रिया में स्वतन्त्र हूँ चाहे जो कुछ करूँ आपको रोकने का मुझे कोई अधिकार नहीं। अंत में वैद्य जी नियन्त्रण से बाहर होकर स्वेच्छा से चलने लगे। अंत में परिणाम स्वरूप उनका पतन हो गया और वह जैसे के तैसे रह गये। कदाचित् उन्होंने योगिराज जी से विधि-विधान से दीक्षा प्राप्त की होती तो गुरु शिष्य के नाते से उनकी आज्ञाओं का पूर्ण रूपेण पालन करने का प्रयत्न करते और इस घाोर पतन से बच जाते। जितना उनका विकास हो गया था और बढ़ता चला जाता अत: दुनियावी अन्य सम्बन्धों की भांति गुरुदेव के चरणों से एक दीक्षा सम्बन्ध भी अनिवार्य है। और सभी के लिए सब प्रकार से श्रेयस्कर है।

प्रश्न : क्या स्त्रियों को भी दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए?

उत्तर : अवश्य दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि हर एक पुण्यकर्म में एवं अपने आत्मोत्थान में पुरुषों के समान ही स्त्रियों का भी समान अधिकार है। ब्रह्म विचार और चिन्तन करने वाला जो मन पुरुषों में है वह स्त्रियों में भी है। जिस प्रकार पुरुष आसन, बन्ध, मुद्रायें, प्राणायाम आदि कर सकते हैं उसी प्रकार यह सी क्रियायें स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। हमारे प्राचीन इतिहास में सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी, चूड़ाला आदि के बड़े-बड़े उपाख्यान हैं जिनसे उनकी ब्रह्मवादिता एवं योग परायणता पूर्णरूपेण स्पष्ट है। अत: जिस प्रकार से योगाभ्यास में योग-दीक्षा प्राप्त करके अभ्यास करने का पुरुषों का अधिकार है इसी प्रकार का अपने लिए स्त्रियों को भी पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त है।

प्रश्न : क्या स्त्रियों को योग-दीक्षा का अधिकार है और क्या उनको गुरुदेव से मंत्रोपदेश लेना चाहिये?

उत्तर : स्त्रियां भी पुरुषों की भांति ही गुरुदेव से दीक्षा लेने की अधिकारिणी हैं। 'दीक्षा' शब्द में 'दीयते' और 'क्षीयते' दो क्रियाओं का प्रयोग होता है। 'दीयते ज्ञानम्। क्षीयते च तदावर्णनम्।' अर्थात् गुरुदेव की जिस क्रिया से शिष्य के हृदय में ज्ञान का संचार हो जाय उसे क्रिया को दीक्षा कहते हैं। आत्मत्वेन स्त्री और पुरुष पशु और पक्षी कीरी और कुंजर ये सभी एक हैं जिस प्रकार पुरुष के अन्दर भी मनन करने की शक्ति है उसी प्रकार स्त्रियों के अन्दर भी मनन करने की शक्ति है। आत्मोत्कर्ष स्त्रियों का भी होना चाहिये पुरुषों का भी होना चाहिये।

इसलिये गुरुदेव से शक्तिपात दीक्षा पा करके अपना आत्म-विकास करने में स्त्रियों का भी सामान्य अधिकार है।

प्रश्न : गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में 'उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं।

यह चौपाई कहकर उत्तम पतिव्रता के लिये संसार में कोई और पुरुष है ही नहीं पतिव्रता की ऐसी सुन्दर निष्ठा का वर्णन किया है और मध्यम दर्जे की स्त्रियों के लिये कहा है- मध्यम पर पति देखे कैसे, भ्राता बन्धु पिता निज जैसे। यानी मध्यम पतिव्रता स्त्री संसार में अन्य पुरुषों को अपने भाई, बाप तथा बेटे के समान देखती हैं। इस प्रकार से उत्तम दर्जे की पतिव्रता स्त्रियाँ जिनकी दृष्टि में अपने पति के अतिरिक्त दूसरा और कोई पुरुष ही नहीं है— क्या वह जब गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त करेंगी तो क्या उनके पतिव्रत में बाधा नहीं पैदा होगी?

उत्तर : बिल्कुल नहीं होगी। यदि उस पति-परायण देवी की अपने पति में परम अनुरक्ति हो तो उसके मन में व्यभिचार वृत्ति बनेगी ही नहीं। वह गुरुदेव से शिक्षा प्राप्त करेगी और अपनी साधना करेगी और दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की ऊँचे धर्मवाली पत्तिव्रता तो योगनिष्ठ साधिका ही हो सकती है। जिसकी वृत्ति योगध्यान करती हुई इतनी ऊँची हो गई है कि उसके हृदय में अपने इष्ट के अतिरिक्त कोई और आता ही नहीं है। वह तन्मय होकर ही सारे जगत् को देखती है तो ऐसी साधिका की दृष्टि जहाँ-जहाँ भी जायेगी वहाँ-वहाँ उसको कोई और आकृति दृष्टि में ही नहीं आयेगी। वह तो समाधि से वृत्ति नीचे आने पर भी तदाकाराकारित होने के कारण सर्वत्र उस ही को देखेगी और उसकी वृत्ति परा-स्थिति को प्राप्त हो जायेगी। उसी पर यह चौपाई लागू हो सकेगी :—

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।।

जिस प्रकार से विद्यालय में अध्ययन करने वाले छात्रों का लक्ष्य अपने अध्यापक से शिक्षा प्राप्त करना रहता है और शिक्षा ही उनको प्राप्त करनी चाहिए। इसी प्रकार से स्त्रियों का गुरुदेव से आत्म-विकास के लिए शिक्षा प्राप्त करने का लक्ष्य होता है और वही होना चाहिए, न कि व्यभिचार आदि कुकृत्यों में पड़ना। इसलिए गुरुदेव से शिक्षा-प्राप्त करने में उसके पतिव्रत में कोई अन्तराय बिल्कुल नहीं पड़ता।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव जी ऐसा सुनने में आता है कि किन्हीं पुरुषों को जन्म से ध्यान और योग की अनुभूति हो जाया करती है। उसका क्या कारण है। और ऐसी प्रतीति किनको होती है?

उत्तर : सौम्य! योग दर्शन के समाधि-पाद में इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक सूत्र का उल्लेख किया है, और वह इस प्रकार है :—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।

इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियें इस प्रकार हैं :—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः ते हि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानु भवन्तः स्व संस्कार विपाकं तथा जातीयकमति वाहयन्ति, तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पद मिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरार्त्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

देह धारणा से परे हो जाने वाले देव लोग और प्रकृति लीन योगी इन दोनों को चित्त के साधिकार रहने से जन्म से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। ये स्व संस्कार मात्रोपगम चित्त के द्वारा अपने आपको कैवल्य पद जैसा समझते रहते हैं। जब तक कि स्व जातीय संस्कार का भुगतान नहीं भोग पाते। इसी प्रकार जो योगी प्रकृति लीन हो जाते हैं। वह भी प्रकृति लीन होकर साधिकार चित्त के द्वारा कैवल्य पद का अनुभव करते हैं। जब तक अधिकार वशात् चित्त का पुनरावर्तन नहीं होता इसी विषय को सामने रखते हुए श्री मद्भगवद् गीता में अर्जुन ने भगवान कृष्ण से निम्नाङ्कित प्रश्न किया है :—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।
कश्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्य शेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

अर्थात् हे प्रभु! श्रद्धा सम्पन्न योगी उचित प्रयास न करने पर जब चल चित्त हो जाता है किस गति को प्राप्त हो जाया करता है। कदाचित् ब्रह्म मार्ग में प्रतिष्ठा को न पाकर विमूढ़ भाव को प्राप्त हुआ फटे हुए बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाया करता। हे जगदात्मा! आप कृपा करके मेरे इस संशय का नाश करिये। आप के सदृश इस संशय की निवृत्ति करने वाला संसार में दूसरा नहीं हो सकता है। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर अखिल लोकपावन भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार दिया :-

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्त पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्व देहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

अर्जुन के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार दिया कि हे अर्जुन! उस व्यक्ति का इस लोक और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला नहीं भी कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह व्यक्ति उत्तमोत्तम पुण्यात्माओं के लोक को प्राप्त करके वहाँ पर बहुत लम्बे समय तक सुखोपभोग करता है। और पुण्य क्षीण हो जाने पर मनुष्य लोक में पुण्यात्माओं के घर जन्म लिया करता है। अथवा बुद्धिमान योगियों के ही कुल में उसका जन्म हो जाया करता हैं। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना भी इस मृत्युलोक में अति दुर्लभ है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त कर लेने के बाद उस योग-भ्रष्ट योगी को पौर्व देहिक बुद्धि योग पुनः प्राप्त हो जाया करता है। और पौर्व देहिक बुद्धि योग को प्राप्त होकर वह योगी पुनः सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। और वह पौर्व देहिक बुद्धि के संयोग से अथवा पूर्वाभ्यास से विवश हुआ उस मार्ग में अवश्य ही पड़ता है। योग का जिज्ञासु वह योगी, योग का

जिज्ञासु होने के कारण कर्म-काण्ड के दायरे से हर समय आगे ही रहता है।

प्रश्न : क्योंकि गीता के उपरोक्त श्लोकों में अर्जुन को भगवान कृष्ण ने योग-भ्रष्ट योगी का जन्म पवित्र श्रीमानी के घर होता है, इस कथन से पवित्र अपवित्र दो प्रकार के श्रीमानो का संकेत मिलता हैं सो कृपा करके बतलाइये कि पवित्र श्रीमान कौन और अपवित्र श्रीमान कौन हैं?

उत्तर : पवित्र श्रीमान वे कहलाते हैं जिनकी कमाई पवित्र है, जिनके आचरण शुद्ध हैं, जिनका व्यवहार शुद्ध है, जो सत्य परिपालक हैं, जो रक्षक है, जिनकी पवित्र कमाई से धर्मशालायें और अन्न-क्षेत्र चलते हैं। और अपवित्र श्रीमान वे कहलाते हैं, जिन्होंने अन्याय से धन कमाया है, जिनका पैसा अपवित्र स्थानो में लगता है, जो साधु-महात्माओं के विरोधी हैं, दुष्टजनों के संगी हैं। अत: योग-भ्रष्ट योगी पवित्र श्रीमानों के अथवा बुद्धिमान योगियों के ही यहाँ जन्म लेते हैं।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव कृपा करके बतलायें इस प्रकार के प्रकृतिलीन या विदेह योग-भ्रष्ट योगी कितने समय में योग को सिद्ध कर लेते हैं?

उत्तर : **प्रयत्नाद्य तमानुस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।**
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।
अर्थात् प्रयत्नशील योगी जिसने अपने अभ्यास के बल से सब प्रकार के पापों की निवृत्ति कर ली है अनेक जन्म के प्रयत्न से पाप निवृत्ति करके अवश्य सिद्धि को पा जाते हैं। वैसे हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है कि :—

'श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।। उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजात-वीर्य्यस्य स्मृति रूप तिष्ठते स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलम् समाधीयते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्त्तते, येन यथावद्धस्तु जानाति, तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसं प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् योगियों के लिए उपाय एक प्रधान वस्तु है। श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और माता की तरह योगियों की रक्षा करता है। विवेक चाहने वाले श्रद्धा युक्त यागी के विशेष ही बल मिल जाता है, और बल मिल जाने पर स्मृत्युपस्थान हो जाता है और स्मृत्युपस्थान पर योगी को निर्विकल्प समाधि हो जाया करती है। समाहित चित्त को प्रज्ञा विवेक हो जाया करता है, और प्रज्ञा विवेक से असंप्रज्ञात समाधि हो जाती है। इस क्रम वाला योगी अपने अधिकारानुसार जल्दी ही योग संसिद्धि को पा जाता है, जिन योगियों का उपाय तीव्र है एवं निष्ठा प्रबल है और इसके साथ-साथ उत्तमाधिकारी है तो उसको सिद्धि पाने में लम्बा समय नहीं लगता।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : क्यों गुरुदेव जी! हमने सुना है कि जीव को गर्भावस्था में भगवान की कृपा से दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है और वह अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता हैं, जन्म और मरण को जानता रहता है क्या ये सब बातें सत्य हैं? कृपा करके बतलाइये?

उत्तर : सौम्य! ये सब बातें बिल्कुल सत्य हैं हमारे उपनिषदों में 'गर्भोपनिषद' नाम की एक छोटी सी उपनिषद् है इसमें इस प्रकार का सब वर्णन मिलता है। पढ़ो! इस विषय मे गर्भोपनिषद में क्या कहा गया है। गर्भावस्था में जीव अपनी हजारों योनियों के जन्म-मरण को देखकर के और अपने किये गये सुकृत्यों और दुष्कृत्यों को देखकर भयभीत हो जाता है, और जन्म-मरण के चक्र से बचने के लिए वहाँ पर अनेकों प्रकार की प्रतिज्ञायें करता है किन्तु जन्म ग्रहण कर लेने के बाद उनको पुन: भूल जाता है और इस जीवन के अमूल्य समय को यों ही व्यर्थ नष्ट किया करता है— देखो-गर्भोपनिषद् के निम्नांकित अंश को पढ़ो। गर्भावस्था के नववें महीने जीव को क्या क्या बोध होता है और क्या पश्चात्ताप करता है।

अथ नवमे मासि सर्व लक्षण ज्ञान करषा-सम्पूर्णो भवति। पूर्व जाति स्मरति। शुभा शुभं च कर्म विन्दति।। पूर्व योनि सहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ता: पीता नानाविधा: स्तना:। जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुन: पुन:। यन्मथा परि- जनस्यार्थे कृतं कर्म शुभा-शुभम् एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फल भोगिन:। अहो दु:खो दधौ मग्ने न पश्यामि प्रति-क्रियाम्।

अर्थात् नवमें मास के पूर्ण होने पर सर्व लक्षण सम्पन्न ज्ञानेन्द्रियों से पूर्ण जीवात्मा अपनी पहली जाति को याद करता है। अच्छे बुरे कर्मों को पहचानता है। अपने पूर्व जन्म में स्वीकार की हुई हजारों योनियों को देखकर भय खाता है। वह देखता है उसने दूध पीये नाना प्रकार के आहार खाये बार-बार जन्मा और मरा। अपने मन में विचार करता है ओह! जिन परिजनो के लिए मैंने नाना प्रकार के अच्छे व बुरे कर्म किये उन सबके कारण मैं यहाँ अकेला चल रहा हूँ। वे सबके सब फल भोगी चल गये जिनके कारण मैं इस दु:ख समुद्र में डूब रहा हूँ और जिससे निकलने का कोई उपाय दृष्टि में नहीं आता। इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाने पर वह जीवात्मा अनेक प्रकार के पश्चात्ताप करता है। और प्रतिज्ञायें करता है किन्तु उस महान अन्धकार से निकल जाने का रास्ता उसे सूझ नहीं पाता।

प्रश्न : गुरुदेव जी अपने कहा है कि वह माता के पेट में गर्भ की काल कोठरी में पड़ा हुआ अनेक प्रकार की प्रतिज्ञायें करता है? कृपा करके बतलाइये वे प्रतिज्ञायें क्या हैं और उनका अन्तिम निष्कर्ष क्या निकल पाता है?

उत्तर : सौम्य! सुनो— जीवात्मा गर्भावस्था में किस-किस प्रकार की प्रतिज्ञायें करता है। वह सब तुम निम्नांकित गर्भोपनिषद् के वचनों से ही जान सकोगे कि जीव, गर्भ मे कितनी घोर प्रतिज्ञायें करके जन्म लिया करता है। पर वह जन्म लेने के उपरान्त उनको पूर्ण रूपेण पुन: भूल जाता है तथा जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहा करता है। संसार के रंग और रूप में फंसकर हमने अपने अमृत जीवन को व्यर्थ में खोया है। यो जीव गर्भ में प्रतिज्ञा करता है-

यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्। अशुभक्षय कर्तारं फल मुक्ति प्रदायकम्। यदि योन्या प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम्। अशु भ क्षय कर्तारं फल मुक्ति प्रदायकम्। यदि योन्या प्रमुच्येऽहं तत्साङ्ख्य योगमभ्यसे। अशुभयक्ष कतरिं फल मुक्ति प्रदायकम्। यदि योन्या प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्।

अर्थात् जीव प्रतिज्ञा करके कहता है कि यदि मैं अब की बरा योनि-द्वार से निकल जाऊँगा तो पाप कर्मों के नाश करने वाले और मुक्ति के दाता भगवान सदाशिव की शरण लूँगा। यदि मैं अब की बार योनिद्वार से बाहर निकल जाऊंगा तो अशुभ कर्मों के नाश करने वाले व मुक्ति को देने वाले भगवान नारायण की शरण लूँगा। यदि मैं अब की बार योनि से निकल जाऊंगा तो मैं सांख्ययोग का अभ्यास करूगा जिससे पाप परम फल को प्राप्त हो जाऊं। यदि मैं

अब की बार योनि द्वार से निकल जाऊगा तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा। इस प्रकार जीवात्मा अनेकानेक घोर प्रतिज्ञायें करता है।

प्रश्न : गुरुदेव जी इस प्रकार के घोर प्रतिज्ञायें करने पर आगे क्या होता है और वह फिर किस प्रकार जन्म ग्रहण करता है?

उत्तर : सौम्य ! सुनो – वह जीवात्मा किस प्रकार कठिनता से जन्म ग्रहण करता है।

अथयोनिद्वारं सम्प्राप्तो यन्त्रेणा पीऽयमानो महता दु:खेन जात मात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्ट स्तदा न स्मरति जन्म मरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।

अर्थात् समय की अवधि निकल जाने के बाद वह जीवात्मा योनि द्वार को प्राप्त हुआ यंत्रों से पीड़े जाते हुए ही तरह से कठिनता से जन्म ग्रहण करता है और उस समय भगवान त्रिगुणात्मिका माया से स्पर्श की हुई वायु से छुआ अपने जन्म जमात्तरों को भूल जाता है और नहीं शुभ–अशुभ कर्मों को पहचानता है। किसी भी प्रकार का दु:ख अनुभव नहीं करता। शनै: शनै: बाल्य क्रीड़ा में आसक्त हो जाता है। इसी प्रकार युवावस्था को प्राप्त होकर यौवन तरंगों में उलझा हुआ अवास्तविक सुखों में मग्न हो जाता है। शनै: शनै: वृद्धावस्था घेर लेती है इन्द्रिय साथ छोड़ देती हैं अनेक प्रकार के दुखों से घिर बैठता है। अन्धकार सामने आने लगता है और समय आने पर काल पुन: खा जाता है। यह उसी महाकाल का चक्र है जिसमें पड़कर जीव को बार–बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। कोई विवेकवान व्यक्ति इस महान अन्ध कूप से निकल पाता है अन्यथा यों ही जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है। जीवात्मा इस पापपंक में वृद्ध हुआ बार–बार जन्म लेता है और मरता है। करोड़ों जन्म इसी प्रकार व्यतीत हो जाते हैं और अन्त में महालय का समय आ जाता हैं जिसमें इसको दु:खों में अरबों वर्ष तक पड़े रहना पड़ता है आत्म विवेकवान पुरुष को चाहिये कि वह अपने आपको इस दु:ख द्वन्द से निकालने का प्रयत्न करें। जब मनुष्य इस प्रकार का प्रयत्न करता है तो उसको कोई कोई सद्गति का साधन भी मिल जाता है।

प्रश्न : गुरुदेव जी शनै: शनै: आत्मा किस गति को प्राप्त होता है और मनुष्य को अपने जीवन में क्या क्या कर्म करने चाहिये जिससे वह जन्म–मरण के चक्र से न भी छुट सके तो कम से कम सद्गति तो पा जाय।

उत्तर : सौम्य! जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण जी ने :—

उर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्य गुणवृन्तिस्था अधो गछन्ति तामसो:।

अर्थात् जा व्यक्ति अपने जीवन में सत्वस्थ हो जाते हैं वह ऊपर के लोकों में चले जाया करते हैं और रजोगुण वाले इसी मनुष्य लोक में बार–बार जन्म लिया करते हैं और निकृष्ट गुण वृत्ति वाले तामस लोग बार–बार अधम योनियों में जन्म लिया करते हैं पुण्य कर्मों का फल सतोगुण है। रजोगुण का फल दु:ख और तमोगुण का अन्धकार है। सतोगुण के द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है। रजोगुण के द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है। रजोगुण के द्वारा लोभ की प्रमाद मोह और आलस्य यह तमोगुण का फल है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इस मनुष्य लोक में जन्म ग्रहण करके अपने आपका सत गुण से युक्त बनायें। यज्ञ दान तप एवं परोपकार में अपने आपको लगायें रखें जिसका मन परदु:ख से दु:खी रहता है, परोपकार की प्रवृतिं मन में बनी रहती रहता है वह मनुष्य अवश्य ही सद्गति का प्राप्त हुआ करता है।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

मय्यासक्त मनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।

अन्वय— पार्थ? मदाश्रयो मय्यासक्त मनः योगं युंजन असंशयं यथा मां ज्ञास्यसि तच्छृणु।

अर्थ— हे अर्जुन! मेरे आश्रित और मयि आसक्त मना होकर तुम योगाभ्यास करते हुए संशय रहित मेरे स्वरूप को जिस प्रकार जान सकोगे उसे मेरे से सुनो।

एक साधक ने उपरोक्त श्लोक और उसके अर्थ के सन्दर्भ में अपना प्रश्न इस प्रकार से भेजा है :–

प्रश्न : गुरुदेव कृपा कर आप समझाइये कि क्या योगाभ्यासी व्यक्ति को भी कुछ ज्ञातव्य अवशेष रह जाता है जो कि भगवान ने गीता के सातवें अध्याय के प्रथम उक्त श्लोक में 'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तत्छणु' जैसे शब्दों को श्रीमुख से कहा है?

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है अवश्य ही साधारण योगाभ्यास करने वाला व्यक्ति भगवान के स्वरूप को पूर्णरूपेण नहीं पहचान सकता। क्योंकि युञ्जन योगी केवल योगाभ्यासी ही कहला सकता है। भगवान ने श्री मद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में युंजन योगी और युक्त योगी दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से कहे हैं जैसे—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी सम लोष्टाश्म कांचनः।।

अर्थात् प्रकृति के पूरे विश्लेषणों को समझ करके उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना, ज्ञान तृप्तात्मा और पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार करके विकार रहित स्थिति में पहुँच जाना एवं अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण जय प्राप्त कर लेना, इस प्रकार के लक्षणों से 'संयुक्त योगी' युक्त योगी कहलाता है। अर्थात् इस प्रकार की स्थिति वाला योगी अपने आप को पूर्ण बना चुका है। उसकी पूर्णता में अब कोई किसी प्रकार की कमी नहीं है। वहीं पर युञ्जन योगी की स्थिति का इस प्रकार से स्वरूप समझाया है :—

शुचौ देशे प्रतिष्ठास्य स्थिर मासन मात्मनः।
नात्युच्छितं नाति नीचं चैला जिन कुशोत्तरम्।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत चित्तेन्द्रिय क्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योग मात्मविशुद्धये।।
समं काय शिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

अर्थात् पवित्र स्थान में अपना आसन कुशा मृग चर्म आदि को बिछाकर के जितेन्द्रिय होकर के आत्म-विशुद्धि के लिए योगाभ्यास करे इस अभ्यास काल में अपना शरीर-शिर एवं ग्रीवा को अचल भाव से स्थिर करें। दिशा-प्रदिशाओं से दृष्टि को हटा करके नासिकाग्र पर दृष्टि अचल करे और मेरे में चित्त लगा करके प्रशान्तात्मा मन वाला साधु अपने आप पर नियंत्रण करके योगाभ्यास को करता हुआ योगी परम निर्वाण शान्ति को प्राप्त हो जाया करता है एवं मन सदृश स्थिति को प्राप्त हो जाया करता है। सो इन श्लोकों के अन्दर अखिलात्मा योगेश्वर श्री कृष्णचन्द्र जी ने युञ्जन योगी का लक्षण करके बतला दिया। अतः युञ्जन योगी और युक्त योगी में इतना ही अन्तर है कि युक्त योगी परिपूर्ण को कहते हैं- और युञ्जन योगी योगाभ्यासी को कहते हैं। योगाभ्यासी योगाभ्यास को करता हुआ कुछ काल के अनन्तर शनैः-शनैः भगवान की अष्टधा प्रकृति का साक्षात्कार करके उनके संशय रहित समग्र रूप को प्राप्त हो जाया करता है। यही 'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तत्छण' में कहा है।

प्रश्न : हे गुरुदेव आप कृपा करके यह और बतलाइये कि भगवान की अष्टधा प्रकृतियों के साक्षात्कार के लिए एवं योग में प्रवेश होने के लिए हमें किन प्राथमिक साधनों का अभ्यास करना चाहिए ताकि पूर्णता को प्राप्त कर सकें।

उत्तर : सौम्य योग में प्रवेश करने के लिए प्राथमिक साधन मन की एकाग्रता है। जो योगी धारणादि के द्वारा अपने मन को एकाग्र कर लेता है वह शनैः-शनैः अन्तर भूमिकाओं का ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न : गुरुदेव धारणा का लक्षण क्या है और साधक को उसे किस प्रकार करना चाहिए इसको समझा कर बतलाइये।

उत्तर : धारणा का लक्षण बतलाते हुए पतंजलि महाराज ने ये कहा है कि— 'देश बंधश्चित्तस्य धारणा।'

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान पर चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है ज्योंही योगी किसी लक्ष्य को अपने अभ्यास का केन्द्र बनाता है त्योंही वह धारणा के बल से चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करके अपने अभ्यास को बढ़ाता है त्योंही उसका अन्तर भूमिकाओं में प्रवेश होता चला जाता है। इसी प्रकार उसकी स्थिति बढ़ती चली जाती है और शनैः-शनैः वह पूर्णता को प्राप्त होता चला जाता है।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

'सिद्धयोग' के गत तृतीय वर्ष के विशेषांक में सौभाग्यवती सरिता भारद्वाज धर्मपत्नी श्री पं. चन्द्रहास शास्त्री साहित्याचार्य, का एक लेख 'योगी जलन्धर और उनकी योगशक्ति' शीर्षक छपा था, जिसमें उन्होंने योगी जलन्धरनाथ का एक दोहा लिखा है जिसका अभी योगी गोपीचन्द की माता के शब्दों में स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है वह दोहा इस प्रकार है :—

माता मारे धी धरे, गऊ सपुच्छी खाय।
ब्राह्मण मोर मद पिये, सोऊ मुक्ति पद पाय।।

यह दोहा योगी जलन्धरनाथ ने अपने प्रिय शिष्य गोपीचन्द्र को निर्गुण तत्व समझाने के लिए लिखा था। किन्तु वह इसके अर्थ को नहीं समझ सका इसलिए उसने अपने गुरुदेव की ओर से उपराम होकर अपनी माता के पास वापिस चला आया। घर आने पर माता ने उसका आने का कारण पूछा तो गोपीचन्द्र ने श्री जलन्धरनाथ का बतलाया वह दोहा कहा, और उस दोहे के अपने मन से समझे भावार्थ को समझाया तथा कहा गुरुदेव का यह दोहा बहुत ही अनर्थकारी है। इससे की भी मुक्ति नहीं मिल सकती, इसी कारण मैं वहाँ से चला आया। गोपीचन्द्र के इस प्रकार कहने पर गोपीचन्द्र की मां ने इस प्रकार समझाया बेटा यह तो अति श्रेष्ठ उपदेश है। तुमको इसमें कौनसी अश्रेष्ठता लगी। यह सब तुम्हारे अज्ञान का दोष है जो तुम इसके अर्थ को बिना ही समझे गुरु की उपेक्षा कर आ गये हो। लो इसका अर्थ मैं समझाती हूँ एकाग्र मन से सुनो—

'ममतारूपी माता को मारे, ब्रह्मज्ञानियों की बुद्धिरूपी पुत्री को हृदय में धारण करे, इन्द्रिय रूप गाय को इन्द्रिय की निषिद्धविषयाकार रूप पूंछ के सहित खाय, अर्थात् इन्द्रियों को जीते, रजोगुण रूप ब्राह्मण को मारे, हरि स्मरण रूप मेघा रस का पान करे वह मुक्ति पद को पाता है। गोपीचन्द्र की माता ने यद्यपि दोहे के भावों को स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया है। इस लेख को पढ़ करके किसी को शंका तो होनी ही नहीं चाहिए। किन्तु फिर भी किसी सज्जन ने प्रश्न लिखकर भेजे हैं उनका समाधान इस प्रकार है :—

प्रश्न : माता मारे, अर्थात् ममता रूपी माँ को मारे। प्रश्नकर्ता का कथन है कि हमने ममता रूपी मां को मार दिया तो हम भगवान से कैसे ममता कर सकेंगे, और कैसे उसकी प्राप्ति होगी?

उत्तर : सौम्य! यह दोहा द्वैत परक नहीं है। उपासक एवं उपास्य दोनों भिन्न-भिन्न तत्व हैं। इसमें वृत्तियें काम करती हैं। ममता भी एक वृत्ति है चाहे वह किसी में भी हो। शुद्ध कैवली भाव को प्राप्त होने वाला योगी अपने स्वरूप में ही सदा अवस्थित रहता है। जहाँ पर गुण वृत्तियों का नाम नहीं होता, तभी मनुष्य कैवली भाव को प्राप्त होता है।

प्रश्न : धी धरे का क्या अर्थ है?

उत्तर : 'धी धरे' का यहाँ पर अर्थ बुद्धि को धारण करना है जिसके लिए वेदों में प्रार्थना की गई है—'धियो योन: प्रचोदयात्' अर्थात् परमात्मा हमारी उस बुद्धि को प्रेरणा दे जो प्रभु के शुद्ध स्वरूप को बढ़ाने वाली है और देखिए बुद्धि के लिए वेद-मन्त्रों में कितनी ऊँची प्रार्थना की गई है- 'यां मेघां देव गणा: पितरश्चोपासते तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।' अर्थात् हे परमात्मा जिस बुद्धि के लिए देवता और पितर उपासना करते हैं, हे प्रभो! वही मेधा मुझे देकर आप मेधा अर्थात् बुद्धि वाला बनायें। इसलिए 'धी धरे' का अर्थ है बुद्धि को धारण करना है न कि पत्नी बनाना। और भावार्थ में पत्नी पति की सलाहकार होती है जिस प्रकार पति हर काम में अपनी पत्नी के विचार अवश्य लेता है इसी प्रकार से बुद्धि का सहयोग लेकर सब काम करना चाहिए। जो बुद्धि कें बिना विचारे काम करते हैं वे सदा-सर्वदा हानि उठाया करते हैं। अत: 'धी धरै' का अर्थ है बुद्धि को धारण करना।

प्रश्न : गऊ सपुच्छी खाय का अर्थ ही समझाइए।

उत्तर : इसके अन्दर 'गौ सपुच्छी खाय' का अर्थ पशु रूप का हनन करके मांसादि भक्षण बिल्कुल नहीं है। इन शब्दों के अन्दर जलन्धरनाथ जी का खेचरी मुद्रा की ओर संकेत है। देखिये हठयोग प्रदीपिका-

गोशब्देनोदिता जिह्वा-तत्वप्रवेशो हि तालुनि।
गो मांस भक्षणं तत्तु महापातक नाशनं।।

यहाँ पर गो शब्द का अर्थ जिह्वा है। जिह्वा का अग्र-भाग सहित तालु विवर में प्रवेश कर जाना ही गोमांस भक्षण है। और इससे आगे—

जिह्वा प्रवेश संभूत वह्निनोत्पादित: खलु।
चन्द्रात्स्रवति य: सार: स स्यादमरवारुणी।।

जिह्वा प्रवेश के घर्षण के कारण चन्द्र-मण्डल से जो अमृत का स्राव होता है उसी को अमर वारुणी कहा गया है। वही मद है। इसका पान करने वाला योगी अमर हो जाता है। इसी का नाम मद-पान है न कि लौकिक शराब आदि का पीना।

प्रश्न : 'ब्राह्मण मारे' अर्थात् वह कौन सा ब्राह्मण है जिसके मारने से ब्रह्म-हत्या का पाप नहीं लगता।

उत्तर : इन शब्दों का अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि कोई मनुष्य तलवार, छुरी, बर्छी भाला हाथ में लेकर ब्राह्मण वर्ण के लोगों को काटता फिरे तब वह अमर पद पायेगा। प्रत्युत इसका अर्थ निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया जाता है। वही भली प्रकार समझ लेना चाहिए। ब्रह्मवेत्री एक वृत्ति है उस वृत्ति को योगियों की भाषा में निर्वाणोन्मुखी कहा जाता है। जब योगी योगाभ्यास करता-करता संप्रज्ञात योग की वितर्कानुगत-विचारानुगत, आनन्दानुगत आदि समाधियों को तय करके अस्मितानुगत योग में प्रवेश करता है। वहाँ पर उसकी वृत्ति ब्रह्मवेत्री बनती है, वह हमेशा अस्मि-अस्मि का रट किया करती है। वही वृत्तिरूपी ब्राह्मण है। जब तक वह वृत्ति कायम रहेगी तब तक मनुष्य परम श्रेय भागी नहीं होता। जब ये वृत्ति मर जाती है ता वही आत्मा की ही मुक्ति है। यही ब्रह्मवेत्री वृत्ति को मारना ही ब्राह्मण का मारना है क्योंकि यह वृत्ति गुणात्मिका है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव जी! हमने खेचरी मुद्रा की बहुत बड़ाई सुनी है। कहते हैं, इसके करने से मनुष्य को अजरत्व एवं अमरत्व-लाभ होता है। कृपया इस मुद्रा के विषय में कुछ समझाइये? बड़े-बड़े साधु-महात्मा, संन्यासी भी खेचरी मुद्रा को प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। कृपया उस खेचरी का स्वरूप बतलाइये तथा यह भी बतलाइये कि यह किस प्रकार से की जाती है?

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा यह प्रश्न बहुत ही उत्तम है। सभी योग के साधकों के लिए हितकारी है। योग मुद्राओं में योगाचार्यों ने खेचरी का अवश्य ही बहुत बड़ा माहात्म्य लिखा है। जो लोग नित्य खेचरी का अभ्यास करते हैं वे लोग अवश्य ही अजरत्व एवं अमरत्व को प्राप्त होते हैं। हठयोग-प्रदीपिका में खेचरी का प्रकार इस तरह लिखा है :—

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

अर्थात् उल्टायी हुई जिह्वा लम्बिका होकर कपाल के छिद्र में प्रवेश करती है और दृष्टि भ्रू-मध्य में लग जाती है। इसी को खेचरी मुद्रा कहा गया है।

प्रश्न : कृपया समझाइये कि इस खेचरी के करने के कितने उपाय हैं? और कौन-सा ऐसा उपाय है कि जिसके करते रहने में मनुष्य को किसी प्रकार की हानि की सम्भावना न हो, और यह साधन-सिद्धि को प्राप्त हो जाय?

उत्तर : खेचरी मुद्रा प्राप्त करने के लिए हमारे शास्त्रों मे विविध प्रकार के साधनों का वर्णन मिलता है। उनमें से मुख्य-मुख्य उपाय जो योगाचार्यों ने वर्णन किये हैं वे इस प्रकार हैं :—

छेदन चालन दो हैं कलाक्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः।।

अर्थात् छेदन करने, चालन करने एवं दोहन करन से जिह्वा शनैः-शनैः लम्बी बढ़ जाया करती है। वह इतनी लम्बी बढ़ा लेनी चाहिए कि भ्रूमध्य को स्पर्श कर सके। भ्रूमध्य तक लम्बी बढ़ जाने पर जिह्वा कपाल-कुहर में प्रवेश करने योग्य बनती है और कपाल कुहर में प्रवेश की हुई जिह्वा चन्द्रमण्डल से स्रवित रस को पान करने लग जाती है। इसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं।

छेदन की विधियाँ

प्रथम प्रकार—

स्नुही पत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।

अर्थात् सेंहुड़ या थोहर के पत्ते जिस प्रकार तेज धार वाले होते हैं उसी प्रकार के तीक्ष्ण एवं चिकनी धारवाले निर्मल किसी शस्त्र से जिह्वा के तन्तु का रोममात्र छेदन करे। इस प्रकार छेदन करने के पश्चात् निम्नांकित उपचार करें—

ततः सैंधव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्त दिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।।

और इस प्रकार छेदन कर लेने के बाद पिसा हुआ सेंधा नमक एवं पिसी हुई हरड़ के चूर्ण को शनैः-शनैः जिह्वा के तन्तु पर मल दिया कर। ऐसा करने से वह तन्तु मिलेगा नहीं। एक बार छेदन करने पर सात दिन तक इसी क्रिया को अवश्य-अवश्य करते रहें। सात दिन तक लगातार सैंधव नमक और हरड़ का चूर्ण लगा करके मनुष्य खेचरी-मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का दोहन एवं चालन अवश्य करता रहे।

सात दिन के बाद पुनः उसी प्रकार से रोममात्र छेदन कर दे।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसना मूल शिला बंधः प्रणश्यति।।

इसी क्रम से लगातार छः महीने तक जिह्वा का छेदन करता रहे। ऐसा करने पर जिह्वा के मूल भाग में जो तन्तु का बन्ध है, जिसके रहने से जिह्वा तालु में प्रवेश नहीं कर सकती, वह भली प्रकार से विनष्ट हो जाता है। उसके नष्ट जाने पर जिह्वा तालु-विवर में-कपाल कुहर में अवश्य ही प्रवेश कर जाती है और मनुष्य की आनाशास ही समाधि होने लगती है।

प्रश्न : आपने ऊपर के श्लोक में खेचरी-साधन को तीन विधियों का वर्णन किया। जिनमें छेदन, दोहन एवं चालन का प्रकरण था। उनमें से आपने छेदन का वर्णन तो भली प्रकार कर दिया, किन्तु दोहन एवं चालन का वर्णन नहीं किया। कृपया दोहन एवं चालन की विधियाँ और समझाइये।

उत्तर : सौम्य! दोहन और चालन में कोई गोप्य बात नहीं है। सुनो–

दोहन प्रकार :—

जो साधक दोहन के द्वारा जिह्वा को लम्बी बनाना चाहें, उनको चाहिए कि जिह्वा के दक्षिण और वाम भागों पर थोड़ा-थोड़ा घृत लगा करके जिह्वा को आगे की ओर इस प्रकार खींचते रहें जिस प्रकार दुग्ध-दोहन के समय गौ के स्तनों को नीचे की ओर खींचा जाता है। यही दोहन का साधारण प्रकार है। इसके अतिरिक्त त्रिकुटे का चूर्ण जिह्वा के वाम एवं दक्षिण भाग पर शहद मलकर जिह्वा को दुग्ध दोहन प्रकार से आगे को खींचते रहना चाहिए। इस प्रकार करते रहने से जिह्वा बहुत थोड़े समय में लम्बी हो जाया करती है। एवं कपाल-कुहर में प्रवेश के अन्तरायस्वरूप जिह्वा के अधर भाग का वह तन्तु भी स्वभावत: ही टूट जाया करता है। जिसको तोड़ने के लिए छेदन-विधि को अपनाया जाता है।

चालन प्रकार—

इसी प्रकार से जिह्वा के दक्षिण एवं वाम भाग के अग्रभाग को दोनों हाथों को तर्जनी और अँगूठे के द्वारा मल-मलकर सूक्ष्म-वस्त्र जिह्वा पर लगाकर पकड़ ले और दायें-बायें घुमाता रहे। इसी को चालन क्रिया कहते हैं। इसी प्रकार करते रहने पर जिह्वा लम्बिका होकर तालु-विवर में प्रवेश करने योग्य बन जायगी। इसी का नाम खेचरी-मुद्रा है।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! खेचरी-मुद्रा प्राप्त हो जाने के बाद साधक किन-किन उत्तम परिणामों को प्राप्त करता है। कृपया यह और समझा दीजिये।

खेचरी के विशेष फल—

उत्तर : **रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।**
विषै र्विमुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभि:।।
न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रां न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीडयते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैपा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपता।।

जो साधक जिह्वा को तालु-विवर में प्रवेश कराकर एक क्षण भी नित्य स्थिर रहता है। वह योगी मृत्यु-जरादि व्याधियों से एवं विषयों के भय से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है। उसके शरीर में न कोई रोग होता है, न मृत्यु का भय रहता है, न निद्रा, न तन्द्रा, क्षुधा एवं तृषा सताती है और न उस खेचरीवेत्ता साधक को किसी भी प्रकार से मूर्च्छा ही होती है। कर्म-बन्धन उसको लिप्त नहीं करता। काल उस पर अपना प्रभाव नहीं डालता। और साथ ही खेचरी के साथ प्राण का भी उर्ध्वाकर्षण हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह साधक उर्ध्वरेता भी हो जाता है। ये खेचरी के विशेष फल हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

हमारे देश में विविध प्रकार के प्रचार होते रहते हैं। प्रचारक लोग स्टेज पर आ अपने-अपने सिद्धान्तों की धूम मचाते हैं और उन्हीं सिद्धान्तों को सर्वोत्क्रष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु इसमें वह कितनी सफलता प्राप्त करते हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। विशेषत: यह देखने में आता है कि यौगिक सिद्धान्तों के प्रचारकों का बहुत ही अभाव है और यदि कोई प्रचारक हैं भी तो वह केवल मात्र आसन बन्ध मुद्रायें एवं प्राणायामादि का ही उपदेश करते मिलते हैं। इससे आगे योग का सत्य सिद्धान्त क्या है इसका प्रतिपादन वे न स्वयं ही कर सकते। न ही वे योग की परिभाषा को जानते हैं। उनके मन में योगी बनने का शुष्क महत्व ही उनके अभिमान का कारण बना रहता है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य मतावलम्बी लोग योग-सिद्धान्तों पर अनेक प्रकार के कटाक्ष करते हैं। यद्यपि उनको अपने भीतर भी योगी बनने की अभिलाषा रहती है। यह लोग छुप-छुप करके स्वयं योग साधना करने के प्रयत्न में रहते हैं। किसी की कोई साधना बन जाय तो वह अपने को कृतार्थ समझता है। किन्तु यौगिक सफलता को प्राप्त करके भी वह योग-सिद्धान्तों का प्रचार नहीं करना चाहते। क्योंकि उनके सम्प्रदाय में योग-सिद्धान्तों की उपेक्षा होती है। इसी प्रकार संन्यासी लोग भी प्राय: देखने में आते हैं जो योग-सिद्धान्तों को मान्यता नहीं देते। हमारे पास किसी महात्मा ने साहंकार प्रश्न भिजवाये हैं। उनमें से एक प्रश्न यह है कि कोई कैसा ही विद्वान हो जीवों की अतीत अनागत की गति को नहीं जानता। न इस विषय में किसी के पास कोई शास्त्रीय प्रमाण है। प्रश्नकर्त्ता महात्मा अपने प्रश्नों के उत्तर को इस प्रकार समझ लें। अन्य सिद्धान्तावलम्बी को अतीत अनागत ज्ञान होता है या नहीं। किन्तु योगी को अवश्य होता है। देखिये इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण—

योगी की अद्भुत शक्ति

परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:

अर्थात् योगी का संयम इतना उत्कृष्ट हो जाता है कि परमाणु से लेकर मूल प्रकृति पर्यन्त उसका पूर्ण अधिकार होता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म को जान सकता है और महान-से-महान को पहचान सकता है।

इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य—

सूक्ष्मे निविशिमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति, स्थूले निनिशमानस्य परम महत्वान्तं स्थिति पदं चित्तस्य एवं तामुभयीं कोटि मनुधावतो योऽम्या प्रतिघात: स परो वशीकार:।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परमाणु और महान से महान आकाशादिकों में योगी यदृच्छ गति होता है। इन विषयों में संयम के द्वारा विजय प्राप्त कर लेने पर योगी स्थिर पद हो जाता है उसका संयम स्वत: ही सिद्ध रहता है। जहाँ भी वह मन को संयमित करना चाहे उस ही वस्तु तत्व को पूरी तरह जानने की ताकत वाला होता है। जो लोग यह कहते हैं कि योगी को भूत-भविष्यत् की गति विधियों का ज्ञान नहीं होता, उन लोगों का योग में यत्किचित् भी प्रवेश नहीं। पढ़ो-योग दर्शन क्या कहता है :-

योगी को भूत भविष्य का ज्ञान

भगवान पतंजलि देव सर्व साधारण के हितार्थ सरल-सीध स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं-

परिणामत्रय संयमादतीतानागत ज्ञानम्।

अर्थात् चित्त के तीन परिणामों में संयम करने से योगी को अनायास ही भूत, भविष्य का ज्ञान हो जाया करता है। इस सूत्र पर पढ़ो व्यास भाष्य—

धर्म लक्षणावस्था परिणामेषु संयंमाद् योगिनां भवत्यतीतानागत ज्ञानम् धारणा ध्यान समा-धित्रयमेकत्र संयम उक्त:, तेन परिणाम त्रयं साक्षात्क्रियमाण मतीतानागत ज्ञानं तेषु संपादयति।

हर वस्तु के तीन-तीन परिणाम होते रहते हैं। किन्तु जिस वस्तु में परिणाम दिखाई देते हैं, वह वस्तु धर्मी कहलाती है उसकी सत्ता भूत, भविष्य और वर्तमान में सामान्य रूप से बनी ही रहती है। उसका एक क्रम से दूसरे क्रम में बदलना ही एक परिणाम से दूसरे परिणाम में जाना है। उदाहरण के लिए इस बात को यों समझ लीजिये, मिट्टी एक सामान्य वस्तु है उसको कूट-पीस कर किसी भी आकृति में परिणित कर सकते हैं। फिर उस मिट्टी से चाहें हम सकोरा बना लें,

मटका बना लें या उसका गाला ही पड़ा रहने दें। धर्मी मिट्टी का धर्म परिणाम हो गई। मटका बन जाने के बाद भी धर्मी मिट्टी का मटका धर्म परिणाम के रूप में तो बदल गया। मिट्टी की सत्ता उसमें ज्यों-की-त्यों विद्यमान है। मटके का लम्बा होना, बड़े पेट वाला होना ये धर्मी मिट्टी का मटके के रूप में लक्षण परिणाम है इसी प्रकार से मटके का नया होना या पुराना होना यह धर्मी मिट्टी का मटके के रूप में अवस्था परिणाम है। तीनों का लक्षण अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार से यह तीनों का लक्षण अवस्था परिणाम चित्त में भी हुआ करते हैं किन्तु चित्त धर्मी है। वह भिन्न-भिन्न आकृतियों में परिणित होता रहता है कभी कीट, पतंगादि में परिणित होता रहता है कभी कीट, पतंगादि में परिणित होता है कभी मनुष्य रूप में तो कभी देव रूप में परिणित होता है। किन्तु चित्त के भिन्न-भिन्न आकृतियों में परिणित होते रहने पर भी धर्मी चित्त हर स्थिति में सामान्य रूप से बना ही रहता है। उसके लक्षण बदल जाते हैं अवस्था बदल जाती है। परिणाम बदल जाते हैं। इस प्रकार योगी जब चित्त के तीनों परिणामों में संयम करता है तो उसे भूत, भविष्य को गतियों का ज्ञान अनायास ही हो जाता है। यदि कोई यह कहे कि योग से भूत, भविष्य की गतिओं का बोध नहीं होता तो यह उसकी अल्पज्ञता है। देखिये पातंजलि सिद्धान्तों में योगी का अपनी बीती हुई जाति का ज्ञान किस प्रकार होता है।

योगी को पूर्व जाति का ज्ञान

संस्कार साक्षात्करणात्पूर्व जाति ज्ञानम्।।

अर्थात् संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी को पूर्व जाति का ज्ञान होता है।

व्यास भाष्य—

द्वेय खल्वमी संस्काराः स्मृति क्लेश हेतवो वासना रूपाः विपाक हेतवो धर्मा धर्म रूपाः, ते पूर्व भवाभि संस्कृताः परिणाम चेष्टा निरोध शक्ति जीवन, धर्म वद परिदृष्टाश्चित्तधर्मा, तेषु संयमः संस्कार साक्षात्क्रियायै समर्थः, न च देश काल निमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् तदिन्थं संस्कार साक्षात्करणात्पूर्व जाति ज्ञानमुतपद्यते योगिनः, पर त्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्पर जाति संवेदनम्।

अर्थात् संस्कार दो प्रकार के होते हैं। स्मृति क्लेश आदि के हेतु वासना रूप प्रथम और विपाक हेतु धर्म अधर्म रूप दूसरे। वह पहले जन्मों से संस्कार वाले होते हैं। वे संस्कार, परिणाम चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन, आदि-आदि चित्त के धर्मों में संयम करने से संस्कार साक्षात्कार करणात् की सामर्थ्य वाला होता है। किन्तु फिर भी देश, काल, निमित्त और अनुभव के बिना चित्त के धर्मों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता। सो इस प्रकार से देश काल निमित्तादि के साक्षात्कार के लिए संयम करता है। तो उसको अपनी सभी पूर्व जातियों का ज्ञान हो जाया करता है। इस विषय में पुरातन कथाओं में भगवान जैगीषव्य ऋषि का उदाहरण बहुत उत्कृष्ट है और वह इस प्रकार है :—

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते— भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कार साक्षात्करणात् दशसु हासर्गेषु जन्म परिणाम क्रम मनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवत्।

जैगीषव्य मुनि ने अपनी समाधि के बल से दश महा सर्गों के अन्दर होने वाली अपनी जन्म और जातियों का साक्षात्कार करने से जब उसको पूर्व जातियों का ज्ञान हुआ तो दुःख-ही-दुःख का अनुभव करके भगवान जैगीषव्य को विवेकज ज्ञान पैदा हुआ।

अथ भगवान वट्यस्तनुधरस्तमु वाच—

दशसु महासर्गेषु भव्यत्वा दनभिभूत बुद्धि सत्वेन त्वया नरक तिर्यग्गर्भ संभवं दुःखं संपश्यता देव मनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुख दुःखयोः किमधिक मुपलब्ध मिति?

एक समय ऋषि आटव्य ने भगवान जैगीषव्य से पूछा हे महामुने! पिछले महासर्गों में तुमने अपने जन्मों की विविध योनियों को देखा उन सब में तुमने सुख-दुःख का क्या अनुभव किया। श्री जैगीषव्य ने भगवान आटव्य के प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया—

भगवन्तमाटव्य जैगीषव्य उवाच—

दशसु मह्वासर्गेषु भव्यत्वादनभिभृत बुद्धि सत्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देव मनुष्येषु पुनः पुनरुपत्पद्य मानेन यत्किश्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि।

भगवान आटव्य के पूछने पर जैगीषव्य ने उत्तर दिया— तिर्यङ् योनि देव मनुष्य आदियों के अन्दर जन्म लेते हुए जो भी बुद्धि सत्व के द्वारा मैंने अनुभव किया है उन सब को मैं दुःख ही जानता हूँ। उसके बाद—

भगवानाटव्य उवाच—

यदिद मायुष्मतः प्रधान वशित्व मनुत्तमं च सन्तोष सुखं किमिद मपि दुःख पक्षे निक्षिप्तमिति।

भगवान आटव्य ने जैगीषव्य से पूछा क्या तुमने बुद्धि सत्व पर अधिकार करके जो सन्तोष सुख प्राप्त किया है क्या वह भी दुःख पथ्य में लगा दिया।

भगवान जैगीषव्य उवाच—

विषय सुखा पेक्षयै वेद मनुत्तमम् संतोष सुख मुक्तं, कैवल्या पेक्षया दुःखमेव बुद्धि सत्वस्यायं धर्म स्त्रिगुणः त्रिगुणश्च प्रत्ययो ह्येय पक्षेन्यरस्त इति दुःख स्वरूपस्तृष्णा तन्तुस्तृष्णा दुःख संतानापग मात्तु प्रसन्न मवाधं सर्वाऽनुकूलं सुख मिद मुक्तमिति।

भगवान जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि— बुद्धि सत्व के द्वारा अनुभव किया जाने वाला अनुभव सुख विषय सुख की अपेक्षा अति उत्तमोत्तम है। किन्तु कैवल्य की अपेक्षा यह संतोष सुख भी दुःख ही है क्योंकि बुद्धि सत्व का यह धर्म त्रिगुणात्मक है इसलिए यह सब ह्येय पक्ष ही है। यह जैगीषव्य मुनि की कथा बहुत पुरानी है और पुराणों में मिलती है। उन्होंने दश महासर्गों में जन्म प्राप्त करने वाली अपनी जातियों को संस्कार का साक्षात् करके जाना। इस प्रकार की कथायें इतिहास पुराणों में बहुत अधिक मिलती हैं। लेख के विस्तार भय से उन प्रमाणों का इस समय उल्लेख नहीं किया गया। बाद में 'सिद्धयोग' के किसी अङ्क में 'योगियों का अतीतानागत ज्ञान' शीर्षक लेख देने का प्रयत्न करेंगे जिससे इस प्रकार की शंका करने वाले महोदय भली प्रकार समझ सकेंगे कि योगियों का ज्ञान कितना अवैद ज्ञान होता है। वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्वों को भली प्रकार से जानने वाले और सामर्थ्यवान् होते हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परमात्मा की ओर चलने वाले तीन प्रमुख मार्ग हैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्य कृपा कर बतलाइये इन तीनों में उत्तम मार्ग कौनसा है?

उत्तर : अवश्य यह प्रश्न इस प्रकार का है जिससे प्राय: भाव आप लोग पूछते रहते हैं। भक्ति शब्द का अर्थ है 'भजनं सेवनं भक्ति' अर्थात् ईश्वर की सेवा करना या भजन करना यह भक्ति कहलाती है। यदि कोई मनुष्य किसी की सेवा करता है तो वह किसी फल को पाने के लिए। यदि कोई भक्त ईश्वर की सेवा करता है तो वह किसी फल को पाने के लिए। यदि कोई भक्त ईश्वर की सेवा करता है तो उसके मन में कुछ-न-कुछ पाने की दृढ़ भावना बनी ही रहती है। पाने की इच्छा होने का मतलब है अपूर्णता, अपनी अपूर्णता को वह किसी न किसी साधन द्वारा पूर्ण बना लेना चाहता है। इसलिए भक्त का दायरा उपासना तक सीमित रह जाता है भक्त जिस समय पूर्णरूपेण आत्म-निवेदन करता है, और ईश्वर को अभिमुख करता है तब उस आदि शक्ति महा ईश्वर से शक्तिपात होता है और शक्तिपात के द्वारा उसको समाधि-सिद्ध होती है। 'योग-दर्शन' में इस प्रकार का लेख है-

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ईश्वर प्रणिधानात् भक्ति विशेषात् आवर्जित: ईश्वर: तमनुग्रह्णाति। अभिध्यान मात्रेण इदमस्याभिमतं इति।

ईश्वर-को आत्म-निवेदन करने से शनै:-शनै: ईश्वरा-भिमुखता बढ़ती चली जाती है और इसका परिणाम यह निकलता है कि आदि महासिद्ध ईश्वर अपने भक्तों पर अनुग्रह करके अनुग्रह करके उनको समाधि प्रदान करता है। अन्त में भक्ति भाव रखने वाले भक्तों को भी योग मार्ग की शरण लेनी पड़ती है। समाधि योग का आठवाँ अङ्ग है। जिसमें जा करके साधक को पूर्णता प्राप्त जाया करती है। अत: भक्ति भी योग का एक अङ्ग है। और वह समाधि प्राप्ति में साधक की सहायता करती है। जिस समय वह साधक ईश्वरानुग्रह से सिद्ध-योग में प्रवेश करता है तभी भक्ति की साधना रूप समाधि को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है। अत: प्रत्येक साधक इस बात का विचार कर ले कि अङ्ग बड़ा होता है या अंगी। भक्ति ईश्वर प्रणिधान यह योग के उपांगों में है। दूसरे यह प्रश्न इस प्रकार का है कि कोई मनुष्य यह पूछे कि भगवान बड़े या उनके भक्त बड़े। यह प्रश्न करने वाले को स्वयं समझ लेना चाहिए कि सेवक बड़ा होता है या स्वामी। भगवान अपने भक्तों को कुछ भी मान दें फिर भी सेवक सेवक ही होता है। और स्वामी स्वामी होता है। इसलिए भगवान भक्त का सम्बन्ध सेवक और स्वामी होने से स्वामी का ही प्रभुत्व है। इसी प्रकार से क्या अवबोधने धातु से ज्ञान शब्द बनता है। इस शब्द अर्थ है जनना। ज्ञान जानने तक पहुँचाता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अपने शब्दों में कहा है :-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वत:।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम्।।

अर्थात् भक्ति से मुझे जान लेता है जो जितना जैसा मैं तत्व से हूँ। तब मुझे तत्व से जान करके वह मुझ में प्रवेश कर जाता है। इस श्लोक के अनुसार भक्ति के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हुई और ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद अन्तर-प्रवेश की क्रिया हुई। अन्तर प्रवेश ही योग है योग नाम समाधि का है और समाधि 'समतावस्था जीवात्म परमात्मन:' जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता को ही समाधि कहते हैं। समाधि का ही नाम योग है। योगोपनिषद् में इस प्रकार का लेख मिलता है—

ईदृशं तु भवेद्यत तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।
पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।।
तत: सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिव भाषितम्।।

अर्थात् ज्ञानी जीवात्मा भी पुण्य-पापादि भोग करके बाद में सिद्ध-संगति को प्राप्त करता है तब वह सिद्धानुकम्पा को प्राप्त करके योगी बनता है। तभी उसकी मुक्ति हो पाती है। अत: ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग दोनों का योग में ही समावेश हो जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक जितने देव हैं सभी के नाम बोध परक हैं।

ब्रह्म रूपेण महायोगी रचयेदखिलं जगत्।
विष्णु रूपेण महायोगी पालयेदखिलं जगत्।।
शिव रूपेण महायोगी संहरेदखिलं जगत्।

आदि-आदि ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के नाम योग परक हैं। अर्थात् उनको योगी महायोगी नाम से संबोधित किया गया। अत: परात्पर मान्य सिद्धान्त योग ही है। कहने को कोई कुछ भी कहता रहे किन्तु बाद में सबको योग की शरण लेनी ही पती है। वह निर्विवाद सिद्ध हो गया।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : गुरुदेव! सद्प्राणी देहावसान करने के बाद सद्गति को पा गया है, इसकी क्या पहचान है? और 'अन्त मता सो गता' के नियमानुसार क्या अन्तिम समय मनुष्य को जिन भावों का स्मरण हो जाया करता है, क्या यह यथार्थ सत्य है?

उत्तर : हाँ सौम्य, यह बात पूर्णं सत्य है। भगवान जगदात्मा श्रीकृष्णजी ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में स्वयं कह दिया है :-

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्माँमनुष्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

अर्थात् ॐ इस एकाक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता जो मनुष्य शरीर छोड़ा करता है वह परम गति को पा जाया करता है। कदाचित् मनुष्य भगवत्-चिन्तन का अधिकारी न बना हो तो वह-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावित:।।

अर्थात् जिस भी भाव का चिन्तन करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह व्यक्ति उस भाव से प्रेरित होकर वैसी ही गति को पा जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या इतिहास में इस प्रकार का कोई प्रमाण मिलता है?

उत्तर : हाँ, इस बात के इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। जड़ भरत का उपाख्यान इस सिद्धान्त का पूरा-पूरा प्रतीक है क्योंकि जड़ भरत को अन्त समय में मृग के बच्चे का चिन्तन करने से मृग-योनि प्राप्त हुई थी।

प्रश्न : गुरुदेव! शुद्ध और उच्च गति प्राप्त करने के क्या उपाय हैं कैसे यह गति प्राप्त करते हैं?

उत्तर : इस सम्बन्ध में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि-

ऊर्ध्व गछन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्यगुण वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:।।

अर्थात् जो व्यक्ति सत्वस्थ हो जाते हैं, वे लोग ऊपर के लोकों को चले जाते हैं। उन लोगों में स्वभाव से ही दैवी सम्पत्ति का भाव हो जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! उत्तम लोकों के अधिकारी सत्वस्थ पुरुष की कैसी स्थिति होती है? मनुष्य यह बात किस तरह जान सकता है? दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति किसको कहते हैं?

उत्तर : **सर्व द्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते।**
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्धिवृद्धं सत्वमित्युत।।

अर्थात् स्वाध्याय और तप के प्रभाव से जिस समय साधक का अभ्यास उत्कृष्ट हो जाता है और हर समय ज्ञान की अनुभूति रहने लगती है। तब साधक को समझ लेना चाहिए कि सत्व पूरी मात्रा में बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति बन जाने पर वह साधक उत्तम लोकों का अधिकारी बन जाता है।

यदा सत्वे प्रवृद्धेतु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तम विदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।

अर्थात् सत्व की वृद्धि हो जाने पर साधक शरीर छोड़ता है तो वह पाप-रहित उत्तम लोकों को प्राप्त हो जााय करता है। इसी प्रकार से रजोगुण की वृद्धि पर शरीर छोड़ने वाले कम संगी लोगों में पैदा हुआ करते हैं। और तमोगुण की वृद्धि पर शरीर छोड़ने वाले अन्धकारयुक्त पाप योनियों में पैदा हुआ करते हैं। अत: सौम्य! इसी जीवन काल में ही साधक को चाहिए कि अपने को सत्व सम्पन्न बना ले। दैवी सम्पत्ति का वर्णन श्री मद्‌भगवद्‌गीता में इस प्रकार किया है :-

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम्।।
तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोही नाति मानिता।
भवन्ति संपद दैवीमभिजातस्य भारत।।

अर्थ- जिस व्यक्ति के मन में दैवी सम्पत्ति का उदय हो जाया करता है उसके मन में शुभ लक्षण स्वभाव से ही रहा करते हैं। वह व्यक्ति प्राणीमात्र से निर्भय बना रहता है। उत्तरोत्तर सत्व वृद्धि होती है। उसका मन ज्ञान और योग में हर समय विलीन रहता है। दान करना इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना, यज्ञ करना स्वाध्याय और तप करना एवं विनम्र रहना, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति एवं अलोलुपता, प्राणीमात्र पर दया नम्रता, लज्जा, आदि का होना एवं चपलता का न होना। तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि किसी से द्रोह न करना, अभिभाषण नहीं करना यह सारे लक्षण दैवी सम्पत्ति के हैं, जो साधक को साधना करते-करते स्वभाव से पैदा हो जाया करते हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव ! कृपा करके बतलाइये, कि परम श्रेय प्राप्ति का सरलतम उपाय क्या है जिसकी साधना करता हुआ मनुष्य परम दुर्लभ मुक्ति पद को पा लेता है। संसार में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार जैसी जैसी जिसकी मति होती है, उसके अनुसार सभी जन मुक्ति प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहते हैं। किन्तु वे लोग अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पाते। सो कृपा करके मुक्ति प्रदर्शक सरलतम उपाय बतलाइये।

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा यह प्रश्न हर जिज्ञासु के लिए परम सुख दाता एवं पथ प्रदर्शक है। यद्यपि तुम रात दिन योग सिद्धान्तों के उपदेशों को सुनते हो एवं जल्दी से जल्दी मुक्ति पथ प्रदर्शक विशुद्ध योग मार्ग को जानतो हो, फिर भी इस को ध्यानस्थ रखते हुए जो तुमने प्रश्न किया है वह मुझे बहुत प्यारा लगा- क्योंकि इस प्रश्न में सर्व साधारण का हित छुपा हुआ है। एक बार यही प्रश्न सृष्टि कर्ता ब्रह्माजी ने श्री आदि देव महादेव जी से किया था। योग शिखोपनिषद् में इसका सविस्तार एवं स्पष्ट उत्तर मिलता है :-

सर्वे जीवा : सुखैर्दुखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्ति कथं देव कृपया वद शंकर।।
सर्व सिद्धि करं मार्ग मायाजाल निकृन्तनम्।
जन्म मृत्युजरा व्याधिनाशनं सुखदं वद।।

अर्थात् सारे संसार के प्राणी सुख दुःख माया जाल से घिरे हुए हैं सो हे प्रभो उनकी मुक्ति किस प्रकार होगी कृपा करके बतलाइये, जो रास्ता जन्म-मृत्यु जरा आधिव्याधि नाश करने वाला हो और जल्दी माया जाल को नष्ट करके सुख देने वाला हो उसको बतलाइये। इसलिए हे प्रभो! कृपा बतलाइये कि परम पवित्र लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कौन सा मार्ग श्रेष्ठतर है? ब्रह्माजी के इस प्रकार प्रश्न करने पर श्री महादेव जी ने उत्तर दिया कि हे ब्रह्माजी सिद्धि-मार्ग ही परम श्रेयस्कर मार्ग है? जिसके कारण मनुष्य जल्दी से जल्दी मोक्ष पद को पा जाता है।

नाना मार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धि मार्गेण लभते नान्यथा पद्म सम्भवः।।

अर्थात् वह दुर्लभ परम पद सिद्धि मार्ग से ही प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न : हे प्रभो! मुक्ति किसको कहते हैं, और मोक्ष का क्या स्वरूप है।

उत्तर : सौम्य मुक्ति का अर्थ है- दुःखों का अत्यन्ताभाव-आत्मा का कैवली भाव को प्राप्त हो जाना। यद्यपि आत्मा में कोई विकार नहीं है फिर भी इसको बुद्धि बोध आत्मा कहा गया है। मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, लड़का हूँ, लड़की हूँ, यह सब बुद्धि बोधक के ही कार्य है। क्योंकि इस समय बुद्धि और आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध है इसलिए गुण साधर्म्य के कारण आत्मा को प्रकृति सम्भव सत्व, रज तम आदि गुणों का भोक्ता कहा जाता है। किन्तु जब प्राकृत गुणों का सम्बन्ध टूट जायेगा, और बौद्धय गुण खत्म हो जायेगा। उस समय आत्मा के केवली भाव को प्राप्त हो जाने के कारण दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जायेगा। इसी का नाम मोक्ष है। योग-दर्शन के कैवल्य पाद के अन्त में-

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशिक्तिरित।

अर्थात् पुरूषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण रूप प्रकृति में लय हो जाना आत्मा से बिलकुल सम्बन्ध विच्छेद हो जाना केवली भाव है एवं चित-शक्ति की स्वरूप प्रतिष्ठा है। गुणों का गुणों में अवसान हो जाने पर अपनी आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है और जन्म मरण का चक्कर छूट जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! मोक्ष प्राप्ति का साधना क्या है? मनुष्य किस पुरुषार्थ के साथ प्रयत्न करने पर केवली भाव को प्राप्त होता है?

उत्तर : सौम्य! मुक्ति को प्राप्त कराने वाली विद्या केवल मात्र योग है। और उसकी साधना दो प्रकार से की जाती है। अधिकांश में लोग इस साधना को पूर्ण करने के लिए साधन मार्ग का अवलम्ब लेते हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योगदर्शन में कहा है कि अष्टांग योग की साधना योग ही है। साधना में मनुष्य को परमार्थ प्राप्ति के लिए कोई न कोई दृढ़तर प्रयत्न करना ही पड़ता है इसी को साधन-योग कहा है। भगवान पतंजलिदेव ने योगदर्शन के साधन पाद के प्रारम्भ में इसी साधनात्मक प्रणाली का क्रियायोग के नाम से वर्णन किया है। संसार में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति-

''मुण्डे मुण्डे मर्तिभिन्ना'' के नियमानुसार परम श्रेय प्राप्ति के लिए के जो भी जैसे प्रयत्न करते हैं, वे सभी प्रयत्न साधन योग अन्तर्गत माने जाते हैं।

इसलिए इस मार्ग पर चलने वाले अभ्यासी लोग साधना मार्ग के साधक कहलाते हैं। साधना मार्ग एक इस प्रकार का मार्ग है जिसमें संसार का हर व्यक्ति प्रवेश पा सकता है। जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के छटे अध्याय में इस साधना को ह्युंजुन योग के नाम से वर्णन किया है—

समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर:।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन।।
प्रशान्तात्मा विगतभो ब्र्हमचारिव्रते स्थित:।
मन: संयम्भ मच्चितो युक्त आसीत मत्पर:।।
युञ्जन्नेवं सदात्मान योगी नियतमानस:।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।

अर्थात् जो मनुष्य सम काय शिराग्रीव होकर निश्चलता पूर्वक इधर-उधर न देखकर नासिकाग्र भाग को देखता हुआ प्रशान्त चित्त ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक निर्भयता से मन को अच्छी प्रकार रोककर मत्तचित्त होकर जो अपने आपको अभ्यास में लगाये रहता है वह निर्वाण परम शान्ति एवं मेरी स्थिति को प्राप्त करता है इस का नाम है, साधन योग। साधन योग का अभ्यास करता हुआ शनै:-शनै: वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त हो जाता है, किन्तु ये मार्ग पिपीलिका मार्ग हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग विहंगम मार्ग है जिसको सिद्धयोग रूप से वर्णित किया गया है। वह परमोत्कृष्ट उत्तमोत्तम मार्ग है। किसी भी साधना मार्ग से चलने वाला व्यक्ति अन्त में उसी मार्ग का विद्यार्थी बनता है। जब तक मनुष्य सिद्धयोग में नहीं आ जाता तब तक वह सदगति भाजन नहीं बनता। इसलिए बहुत से जप, तप, पुण्य पाठ का परिणाम यह है कि मनुष्य सिद्धि मार्ग में आकर परम श्रेय भाजन बने क्योंकि हमारे शास्त्र का वचन है-

ज्ञातरक्तो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रिय:।
बिना सिद्धौने योगेन न मोक्षं लभेत द्धिधे।।

अर्थात् भगवान शिव ब्रह्मा जी से कह रहे हैं कि हे ब्रह्मा जी! मनुष्य चाहे ज्ञानी हो या विरक्त हो बिना सिद्धयोग के मुक्ति नहीं पाता।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या महावाक्यों का मनन करने वाले संन्यासी महात्माओं को भी सिद्धयोग की शरण लेनी पड़ती है और तभी वे मुक्ति को पा सकते हैं?

उत्तर : अवश्य संन्यासी महात्माओं को भी सिद्धयोग की शरण लेनी ही पड़ती है देखिये योग शिखोपनिषद् का वचन—

नानामार्गैस्ते दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।।

योग शिखोपनिषद में भगवान शंकर ब्रह्माजी से कहते हैं कि हे ब्रह्मा जी! नाना मार्गो में प्रयत्न करने वाले जीवों को मुक्ति पद प्राप्त करना बहुत कठिन है किन्तु सिद्धि मार्ग से यह अत्यन्त सुलभ है। इसलिए 'सिद्धि मार्ग' मुक्ति प्राप्ति का उच्चतम उपाय है। 'सिद्धयोग' जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक चाहे संन्यासी हो ज्ञानी हो विरक्त हो उनको अपने पाप-पुण्य भोग कर पुन: पुन: जन्म लेना पड़ता है बड़े लम्बे समय के बाद जब पुण्य इकट्ठा हो जाता है तब वे लोग सिद्ध गुरु के द्वारा मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं। देखिये योग शिखोपनिषद् में श्री महादेवजी का वचन—

देहान्ते ज्ञानिभ: पुण्यात्पापाश्च फलमाप्यते।
इद्दशं तु भवेत्तद्भद्धत्त्वा ज्ञानी पुनर्भवित्।।
पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम्।
तप: सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिव भाषितम्।

अर्थात् शरीर छूट जाने के बाद जो भी पाप-पुण्य के भोग होते हैं। वह ज्ञानियों को भी भोगने पड़ते हैं। कालान्तर में फिर प्रबल पुण्य के प्रभाव से सिद्ध गुरु की संगति मिलती है। तब वे लोग सिद्धों की अनुकम्पा से योगी बनते हैं, तभी संसार चक्र नष्ट हो पाता है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

जिज्ञासु– हे करुणासिन्धु, गुरुदेव! संसार में नाना प्रकार के मत मतान्तर प्रचलित हैं। उनमें से किससे अपना कल्याण हो सकता है? मत मतान्तरों के चक्कर में फँसकर सोच नहीं पाता क्या करूँ? कृपा कर मेरे अन्दर निश्चयात्मक विचार की शक्ति देकर कृतार्थ करें।

गुरुदेव– वत्स! सत्य है कि संसार में चारों ओर लोग अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। ऐसे में साधारण व्यक्ति इस चक्कर में पड़ जाय कि क्या कर्त्तव्य है, क्या त्याज्य है तो आश्चर्य नहीं। सबसे पहले सत्संग से यह निश्चय करो कि तुम्हारा असली स्वरूप क्या है? क्या जन्मने मरने वाला, भोग और रोग में हाय-हाय करने वाला तुम्हारा स्वरूप है या नित्य निरंजन सत् चित आनन्द तुम्हारा स्वरूप है? उस स्वरूप की प्राप्ति समर्थ गुरु की कृपा के बिना तथा अकर्मण्यता से प्राप्त नहीं हो सकती। गुरुकृपा के साथ निरन्तर दीर्घकाल तक एक तत्व का अभ्यास किया जाय तब समाधि सिद्ध हो पाती है। 'समाधि: समतावस्था जीवात्म परमात्मनो:' अर्थात् समाधि को दशा में जीव परमात्मा के समस्त देश और काल की सीमाओं से रहित कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् की शक्ति वाला बन जाता है। संसार का हर प्राणी अधिकार प्राप्त करने के लिए जी तोड़ कोशिश कर रहा है। अत: सौम्य तुम भी ऐसा अधिकार प्राप्त करो कि प्रकृति के स्वामी बन सको। इसके लिए यम-नियमों का पालन करते हुए आसन सिद्ध कर ध्यान को ध्येय में लीन कर दो बस काम बन जायेगा।

जिज्ञासु– दयालु गुरुदेव! ध्यान कैसे लगे? ध्यान लगता ही नहीं? कृपा कर ऐसा उपाय बताकर कृतार्थ करें जिससे चित्त एकाग्र हो और मन प्रसन्न रहे।

गुरुदेव– प्रिय! यह तुम्हारी ही समस्या नहीं है। प्रारम्भिक साधक की अधिकतर यह शिकायत होती है कि मन एक क्षण को भी प्रभु ध्यान में नहीं लगता। लगाने की कोशिश करो भी तो आंखें भले हीं बन्द रहे। मन न जाने किन-किन विषयों को देखा करता है और ऐसा बेहाल कर देता कि कुछ करते नहीं बनता। मन का स्वभाव वैसे तो बड़ा चंचल है पर उससे भला दूसरा कोई और नहीं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र से अर्जुन ने भी यही दु:खड़ा रोया था।

चंचलं हि मन: कृष्ण, प्रमाथि वलवद्धढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदृष्करम्।।

अर्थात् हे कृष्ण भगवान्, मन सारी इन्द्रियों को बहकाने वाला इतना चंचल है कि क्षणभर को इसकी वृत्ति ठहरती नहीं इसको कन्ट्रोल करना वायु से भी अधिक कठिन है।

भगवान ने अर्जुन पर कृपा कर समझाया– प्रिय वत्स, मन चंचल अवश्य है पर अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है। मन पारें की तरह चंचल है जेसे पारे को बांधकर उससे दिव्य रसायन का निर्माण हो जाता है जिनसे कायाकल्प वाकासिद्धि आदि विभूतियाँ आ जाती हैं उसी प्रकार इसे विषयों से हटाकर प्रभु के चरणों में लगा ने पर इसे ऐसी ताकत मिलती है कि वह स्वयं शक्ति का पुंज बन जाता है। प्राणियों पर अनुग्रह और कृपा करने की सामर्थ्यवान् गुरु की ताकत के द्वारा दृढ़ निश्चय से मल और विक्षेप के दायरे से हटाकर अनन्त सौन्दर्य शक्ति तथा शिवत्व के भण्डार आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरणों की कृपा का भिखारी बना दो। उसमें सतोगुण का आविर्भाव होने पर वह बादशाह बन जायेगा।

ध्यान निर्विषयम् मन:।

ऐसा शास्त्रों का मत है। अर्थात् चित्त-वृत्तियों के अभ्युत्थान से अन्तराय और विघ्न चलते रहते हैं जिससे मन उन्हीं के दायरे में घूमने का आदी बन जाता है। अष्टांग योग के अभ्यास से तथा नेती धोती वस्ति आदि क्रियाओं के अभ्यास से शरीर के वात, पित्त, कफ तथा संचित संस्कार कमजोर पड़ कर साधक के मन को ऊँचा उठाने में मदद करने लगते हैं। विषय से रहित होने पर विवेक ख्याति और ऋतम्भराप्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती है जिसमें पहुँचकर मन मस्त होने लगता है और वैराग्य की ओर बढ़ता है उस अवस्था में ध्याता जिस-जिस में भी संयम करना चाहता है उसी का साक्षात्कार कर लेता है। सन्त शिरोमणि तुलसीदास ने ऐसी अवस्था के लिए कहा है कि जीव की नींद खुल गई।

जानिइ तबइ जीव जग जागा। जब सब विषय भोग वैरागा।।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव? योग दर्शन में श्री पतंजलि देव जी ने योग की परिभाषा बतलाते हुए चित्त निरोध को योग बतलाया है। और साथ ही तीसरे सूत्र में 'तदा दृष्टु स्वरूपेऽव स्थानम्' कह करके स्वरूप: स्थिति का निर्देश किया है। इस गूढ़ विषय को मैं अभी तक भली प्रकार समझ नहीं पाया। कृपा करके मुझे यह समझा दीजिये कि स्वरूप स्थिति कैसी होती है, और उस समय जीवात्मा किस हालत में रहा करता है?

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा प्रश्न बिलकुल ठीक है। स्वरूप-स्थिति का विषय ही कुछ ऐसा है कि जो सभी की समझ में नहीं आया करता। वैसे तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर 'तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्' इसी सूत्र पर भाष्य लिखते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। श्री व्यास भाष्य निम्नांकित पंक्तियों को पढ़ा।

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, व्युत्थान चित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा।

अर्थात् तदानीं स्वरूप प्रतिष्ठा यथा कैवल्ये चित्त शक्तिस्तया। अर्थात् समाधि में जीवात्मा की स्वरूप स्थिति इस प्रकार की होती है जैसी कि चित्त शक्ति की स्थिति कैवल्य में अर्थात् मोक्ष में हुआ करती है। वैसे साधारण स्थिति में भी जीवात्मा बिल्कुल अविकारी है, किन्तु अविकारी होते हुए भी विकारी जैसा भासित होता रहता है। आत्मा शुद्ध चेतन है। गीता के दूसरे अध्याय के २४ और २५ श्लोक में आत्मा को नित्यता और अविकारिता का बिलकुल स्पष्ट प्रतिपादन किया है। पढ़ो-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य: सर्वगत:,
स्थाणुरचलोऽयं सनातन:।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्यो-
ऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं,
नानुशोचितुमर्हसि।।

अर्थात् यह आत्मा अच्चेद्य अदाह्य, अक्लेद्य अशोच्य नित्य सर्वगत स्थाणु अचल एवं सनातन है। यह अव्यक्त है साधारण स्थिति में देखा नहीं जाता न इसके बारे में कोई सोच सकता है यह सदा सर्वदा अविकारी कहा गया है। इस लिए हे अर्जुन! इस प्रकार के इस आत्मा के स्वरूप को समझकर तुम किसी प्रकार की भी चिन्ता मत करो। किन्तु आत्मा का यह रूपक होने पर भी वह जैसा स्वरूप स्थिति में रहता है वैसा साधारण रूप में नहीं रहता।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह दोनों प्रकार की बात कैसी है आत्मा नित्य सनातन अविकारी कहा गया है। फिर यह साधारण स्थिति में विकारी जैसा क्यों भासित होता है।

उत्तर : सौम्य! इसका कारण केवल एक ही है कि आत्मा ने अपने स्वरूप को भुला करके बुद्धि के स्वरूप को स्वीकार कर लिया है इसलिए इसका नाम बुद्धि बोध आत्मा कहा गया है। जब यह आत्मा बुद्धि बोध को छोड़ करके स्वरूप प्रतिष्ठा में आ जायेगा, तब यह हर साधारण स्थिति में भी स्वरूप प्रतिष्ठत ही होगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आत्मा नित्य चेतन अविकारी होने पर भी बौद्धय बोध को क्यों प्राप्त हुआ और इसकी ऐसी स्थिति क्यों हुई कृपा करके समझाइए।

उत्तर : हे वत्स! सुनो यह बुद्धि जड़ है किन्तु ज्योंही इसने आत्मा का सानिन्ध्य प्राप्त किया त्यों ही आत्मा की चेतनता के प्रभाव से यह चेतन हो गई, जब आत्मा से इसने इतने बड़े उपकार को प्राप्त किया तब प्रत्युपकारार्थ इसने अपना रूप आत्मा को दिखला दिया। आत्मा ने भी बुद्धि के रूप को स्वीकार कर लिया, इसी कारण से आत्मा विकारी सा भासित होने लगा, और वह अपने आपको सुखी दु:खी बड़ा बूढ़ा लड़का लड़की पशु-पक्षी आदि-आदि समझने लगा, इसी का नाम हृदय ग्रन्थि है। एवं प्राकृतिक भाषा में जड़ चेतन की गांठ इसकी कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठ होने पर ही इस हृदय-ग्रन्थि का भेदन होता है एवं आत्मा अपनी शुद्ध स्थिति में आया करता है। इस विषय को स्पष्ट करने का एक उदाहरण उपदेशक लोग अपनी कथावार्ता में बतलाया करते हैं। उसके समझ लेने पर आत्मा के विकारी

और अविकारी भेद को भली प्रकार समण जाओगे। वह कथा इस प्रकार है। कहीं जंगल में एक सिंहिनी रहा करती थी समय आने पर उसको प्रसव हुआ एवं एक बच्चा पैदा हो गया। संयोग वश सिंहनी कहीं इधर-उधर जंगलों में भटक गई, और सिंहिनी का वह नवजात बच्चा भी भेड़ और बकरियों के दल में मिल गया। भेड़ और बकरियों के दल में मिल गया। भेड़ और बकरियों का प्रभव उसके मन पर पड़ने लगा। धीरे-धीरे वह अपने आपको भेड़ समझने लगा। धीरे-धीरे वह अपने आपको भेड़ समझने लगा और भेड़ बकरियों की तरह घास खाने लगा। काफी समय बीत जाने के बाद जब किसी सिंह ने उसको देखा तो सिंह ने पहचान की कि बच्चा हमारा है और उसको बोध कराया कि तू भेड़ नहीं है प्रत्युत सिंह है जब इस प्रकार का बोध कराने पर जब उस सिंह के बच्चे को अपना सिंहत्व का ज्ञान हुआ तो अपने स्वरूप में आकर भेड़ और बकरियों को अपना आहार जानकर उन्हीं पर आक्रमण करने लगा। ठीक यही दशा आत्मा की है। बुद्धि के प्रभाव में आ करके यह बुद्धि के प्रभाव में आ करके यह बुद्धि बोध आत्मा बन गया है। समय आने पर जिस समय इस चिच्चड़ ग्रन्थि का भेदन हो जायेगा। तो आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा और जान जायेगा कि मैं नित्य चेतन हूँ।

प्रश्न : हे गुरुदेव! ऐसा समय कब आयेगा। यह हृदय ग्रन्थि कब खुल जायेगी। मन के संशय कब मिटेंगे, और कर्म-बन्धन का नाश कब होगा। कृपा करके बतलाइये।

उत्तर : हे सौम्य! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर साक्षात् कृतधर्मा ऋषि मुनियों ने पहले से ही दिशा हुआ है। सुनो उपनिषदों में इस प्रश्न का उत्तर—

मिद्यन्ते हृदय ग्रन्थि, छिद्धयन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्तेचाऽस्य कर्माणि, तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस दूर से दूर और नजदीक से नजदीक रहने वाले सर्व व्यापक चेतन को देख लेने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। सब प्रकार के संशय नाश हो जाते हैं, और कर्म बन्धन क्षय हो जाते हैं। इसलिए हे वत्स, इस मनुष्य जीवन धारण करने का फल यही है कि साधक आत्म-साक्षात्कार के प्रयत्न में लग जाय। एवं चित्त वृत्तियों का निरोध कर डाले। चित्त वृत्तियों का निरोध ही कल्याण का आदि स्रोत है। साधक को चाहिए कि अपने प्रयत्न में शिथिलता न करें। महात्माओं का कथन है।

काल चिरैयां चुग रहीं, निस दिन आयू खेत।
फिर पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुगिजायँ खेत।।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव ? मैंने आपके मुखारविन्द से यह कई बार सुना है कि–

भिद्यन्ते हृदय ग्रंन्थि, छिद्यन्ते सर्ब संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस नजदीक से नजदीक और दूर से दूर सर्व व्यापक रहने वाले परमात्मा का दर्शन कर लेने के बाद हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और, सब प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है। एवं सर्व प्रकार के कर्म बंधन क्षय हो जाते हैं सो हे प्रभो! उस सर्व शक्तिवान् परमात्मा के साक्षात्कार का क्या उपाय है, जिससे मैं इस सांसारिक झमेले से छूट जाऊं एवं सर्व प्रकार की आपत्तियों से निकल जाऊँ।

उत्तर : हे वत्स! इसका उपाय तो एक मात्र योग ही है। योग ही से मनुष्य सब प्रकार के कल्याणों को प्राप्त करता है। ज्ञान सब प्रकार से पवित्र है, किन्तु योगाभ्यास के बिना वह ज्ञान भी अधूरा है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति साधक को योग से ही हो पाती है। देखो जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जी ने इस बात को कितनी सरलता और सुन्दरता के साथ स्वीकार किया है :–

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रामह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्धि, कालेनात्मनि विन्दति।।

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र कोई चीज नहीं है। और उस ज्ञान को समय आने पर योग से सिद्ध लोग ही पाया करते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! योग की क्या परिभाषा है।

उत्तर : सौम्य! योग की परिभाषा तो योग दर्शन के प्रारम्भ में ही भगवान् पतंजलि देव ने कर दी है समझ लेने की आवश्यकता है। भगवान पतंजलिदेव ने योग की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि 'योगश्चित वृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! चित्त की वृत्तियें कितने प्रकार की हैं। और उनका क्या स्वरूप है किस प्रकार से वे रोकी जाती हैं, कृपया उनके समझा दीजिये।

उत्तर : सौम्य! चित्त वृत्तियें पाँच प्रकार की हैं। और क्मिलष्टाऽक्लिष्टा करके दो भेद हैं। भगवान पतञ्जलिदेव आदेश करते हैं—

वृत्तयः पञ्चतय्यः, क्लिष्टाक्लिष्ट।

अर्थात्– वृत्तियें पाँच प्रकार की है जिनके क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप से दो भेद हैं। पढ़िये श्री व्यासदेव जी का भाष्य–

'क्लेश हेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्री भूताः क्लिष्टाः ख्याति विषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्ट प्रवाह पतिता अण्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति

अर्थात् कर्माशय के पैदा करने में क्षेत्रों भूषा वृत्तियें क्लेशों के कारण होने से क्लिष्टा कहलाता है। और इसी प्रकार से विवेक ख्याति की ओर ले जाने वाली गुणाधिकार की विरोधिनी वृत्तियें अक्लिष्टा कहलाती हैं। किन्तु जहाँ पर क्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह जारी हो जाता है उसमें कभी-कभी अक्लिष्ट वृत्तियें भी आ जाया करती हैं। और अक्लिष्ट वृत्तियों में क्लिष्ट वृत्तियें भी प्रवाहित दिखाई देती हैं। जैसे कोई व्यक्ति यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करे और उनके करते-करते क्रोधवश आकर किसी को भार डाले, आघात पहुँचावे, ये प्रवाह अक्लिष्ट वृत्तियों के अन्दर क्लिष्टा वृत्तियों का है। और इसी प्रकार से जैसे कोई व्यक्ति चोर है, डकैत है और वह चोरी और डकैती करता हुआ भी उस डकैती के पैसे से कोई बड़ा भारी दान कर डाले, दीनों की सहायता कर दे तो यह उसका क्लिष्ट वृत्तियों में अक्लिष्टा वृत्तियों का प्रवाहित होना कहलायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! तो इसका अर्थ यह हुआ कि क्लिष्टा वृत्तियें अपने जैसे संस्कारों को और अक्लिष्टा वृत्तियें अपने जैसे संस्कारों को पैदा करती रहती होंगी।

उत्तर : सौम्य! यह तुम्हारा अनुमान बिल्कुल ठीक है देखों श्री व्यासदेवजी क्या लिखते हैं।

तथाजाती यकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारेश्च वृत्तभवसिता (1) धिकारमात्मकल्पेन व्यषतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति, ताः क्लिष्टाश्चा-क्लिष्टाश्च पञ्चवा वृत्तयः।।

सो इस प्रकार से उस प्रकार के संस्कार वृत्तियों से ही बन जाते हैं और वृत्तियें संस्कारों से पैदा हो जाती है इस प्रकार से वृत्ति संस्कार चक्र दिन रात चलता रहता है। अभ्यास के प्रभाव से जब ही चित्त के अधिकार समाप्त हो जाते हैं। तब यह चित्त केवल मात्र आत्म प्रत्यय को लेकर के आत्मत्वेन बना रहता है। अथवा गुणों का गुणों में अवस्थान होने से खत्म हो जाता है। इस प्रकार से ये वृत्तियें क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं। और अभ्यासी साधक के मन में इन्हीं क्लिष्टा क्लिष्ट वृत्तियों का उत्थानपतन होता रहता है इन वृत्तियों के इस प्रवाह से जो साधक अपने आपको बचा लेता है, वह सच्चा भुभुक्षु है और शनैः शनैः अभ्यास करता-करता मोक्ष स्वरूप कैवल्य स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है।

आत्मा उत्तम आसन है

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदनी,
विधनतो नो फलको विनिर्मितम्।
यतो निरस्ताक्ष कषाय विद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः।।
न संस्तरो भ्रद्र समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवार्निशं,
विमुच्य सर्वामपि वाह्यवासनाम्।।

अर्थात् ध्यान करने के लिये पाषाण की शिला, कुशा या पृथ्वी के आसन की आवश्यकता नहीं है। विद्वानों के लिए वह आत्मा ही स्वयं पवित्र आसन है, जिसने क्रोध आदि कषाय (कुवृत्ति) व इन्द्रिय विषय वासनारूपी शत्रु का संसार कर दिया है। हे मित्र! आत्मध्यान के लिए न किसी स्थान, विशेष की, न लोकपूजा की और न सभा-सोसायटी की आवश्यकता है। जिस किसी प्रकार अपने हृदय से बाह्य वस्तुओं की वासना को निकाल कर, अपने ही स्वरूप में प्रतिक्षण लवलीन रहे, यही ध्यान एवं समाधि है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव! नाना मार्गो से अपनी-अपनी मति-भेद के अनुसार मनुष्य मात्र परमात्मा की उपासना करता है किन्तु मैं अभी तक यह नहीं समझ पाया कि परम पद प्राप्त करने के लिये इन सभी मार्गों में श्रेष्ठतम मार्ग कौनसा है जिसके द्वारा प्राणी मनुष्य शरीर धारण करके जल्दी से जल्दी परम कल्याण का भागी बन जावें। इस विषय में आपका क्या मन्तव्य है कृपा कर मुझे समझाइये।

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा यह प्रश्न बहुत ठीक है। इस प्रश्न के उत्तर में सभी का हित छिपा हुआ है। मैं स्वयं भी यह चाहता था कि तुम्हें यह सब बातें प्रमाण सहित समझा दी जांय किन्तु ऐसा अभी तक हो नहीं पाया। सो तुमने आज स्वयं ही यह सभी के लिये हितकारी प्रश्न कर दिया है। हे वत्स मुण्डे-मुण्डे मर्तिर्भिन्ना के अनुसार वैसे तो लोगों ने हजारों मतों कल्पनायें की हैं किन्तु उन सभी में से तीन मार्ग इस प्रकार के है जिनमें सभी मतो का समावेश सा हो जाता है। अपनी-अपनी मति भेद के अनुसार संसार का जो भी प्राणी परमात्मा की और जाना चाहता है वह मत मतान्मर का चाहे कुछ रूप बनाये फिर भी निम्नांकित तीन मार्गों में से किसी न किसी मार्ग में उसका समावेश तो अवश्य होगा ही होगा। इसलिये पहिले हम तुम्हें वह तीन मार्ग समझाते हैं जिनका अवलम्ब लेकर मनुष्य परमार्थ पद का पथिक बना करता है। वह तीनों मार्ग इस प्रकार है :

(१) भक्ति मार्ग
(२) ज्ञान मार्ग एवं
(३) योग मार्ग

(१) भक्ति मार्ग

भक्ति शब्द का अर्थ है भजन, सेवन, भक्ति भज सेवायाम् इस धातु से भक्ति शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् परमात्मा का भजन करना या सेवा करना भक्ति कहलाती है। नारद भक्ति सूत्र में श्री नारद जी ने भक्ति का लक्षण बतलाते हुए कहा है भक्ति परानुरक्तिरीश्वरे अर्थात् ईश्वरे परानुरक्ति भक्ति ईश्वर में पर अनुराग हो जाना अर्थात् उस परमात्मा के चिन्तन में इतना लीन रहना कि उससे बढ़कर अपने आपको या अन्य किसी को कुछ नहीं समझना भक्ति कहलाती है। भक्ति मार्ग पर चलने वाले भक्त जन शनैः-शनैः अभ्यास करते हुए परमात्मा को अपना आत्म समर्पण कर डालते हैं। उसका परिणाम यह निकलता है कि वे शनैः-शनैः अन्तर्मुखी दशा को प्राप्त कर योगमार्ग में प्रवेश कर जाते हैं एवं परिणाम स्वरूप उनको समाधि सिद्ध हो जाती है। भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन में यह स्पष्ट आदेश दिया है कि :-

समाधि सिद्धि ईश्वर प्रणिधानात्

अर्थात् ईश्वर को आत्म निवेदन करने से समाधि सिद्ध हो जाती है यह है भक्ति मार्ग। जिसकी साधना करने से अन्ततः परिणाम स्वरूप योग में आना पड़ता है।

(२) ज्ञान-मार्ग

'अवबोधने' धातु से 'ज्ञान' सिद्ध होता है। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है किसी वस्तु की यथार्थता को जानने का नाम ज्ञान है। अब बोधनार्थ ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। स्वरूप ज्ञान के बिना कोई भी प्राणी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि 'ऋतेज्ञानात्न मुक्ति' अर्थात् ज्ञानात् ऋते न मुक्ति अर्थात् स्वरूप के यथार्थज्ञान के बिना किसी को भी मुक्ति नहीं होती। 'ज्ञान' शब्द की पराकाष्ठा स्वरूप बोध तक है' ज्ञान साधक को स्वरूप बोध तक पहुँचा देता हैं। स्वरूप स्थिति ही योग है। 'ज्ञा' अवबोधन का कार्य समाप्त होने पर स्वरूप स्थिति ही निर्विकल्प समाधि है। भगवान पतंजलिदेव ने योग की परिभाषा बतलाते हुए चित्त वृत्ति निरोध को योग बतलाया है। एवं योगः समाधि समाधि र्विह योगः आदि-आदि शब्दों से निर्विकल्प समाधि का नाम ही योग है। समाधि में क्या स्थिति होती है इसका स्पष्टीकरण भगवान पतंजलिदेव 'तदादृष्टेस्वरूपे वस्थानं' इस सूत्र को कहकर करते हैं अर्थात् तदा तस्मिन स्थितो स्वीये रूपे स्थिति स्वरूप स्थिति अर्थात् उस समाधि में जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है, इसी का नाम कैवल्य है और इसी को वेदान्ती लोग ब्रह्मैक्य घोषित करते हैं। उपरांकित पंक्तियों से यह बिल्कुल सिद्ध हो गया है ज्ञा=अब बोधन का अर्थ है जिस क्रिया में कुछ ज्ञान होता रहे अर्थात् आत्म कारनिर्वाणोन्मुखी वृत्ति कायम रहे वहीं तक ज्ञा=अवबोधन, का कार्य समाप्त हो जाया करता है। इससे आगे की जो स्थिति है उसको योग कहा गया है। किन्तु योग साधन एवं

साध्य दोनों रूपों मे कहा गया है। यम-नियम आसन प्राणायाम आदि यह अष्टांग योग साधन रूप है। और समाधि साध्य है। इसी प्रकार का निर्देश जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में किया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शम कारणमुच्यते।।

अर्थात् जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है उसको योग की उच्चतम् स्थिति को प्राप्त कराने के लिए करण कारण बनता है। अर्थात् साधन रूप योग का अवलम्ब लेना पड़ता है और योगरूढ़ हो जाने के बाद श्रम ही प्रमुख कारण है अर्थात् शास्वत शान्ति लाभ करना ही स्वरूप स्थिति को पाना है। 'ज्ञा' धातु सज्ञ न शब्द अवबोधनार्थ हैं, जिसका लक्ष्य स्वरूप स्थिति तक पहुँचाना है उसके बाद स्वरूप स्थिति हो योग है।

(३) योग-मार्ग

ऊपर की पंक्तियों में हम बतला चुके हैं कि ज्ञान शब्द का अर्थ समाधि तक पहुँच ना है, 'युज समाधौ' से योग शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् समाधि का ही नाम योग है। उपनिषदों का लेख है :

समाधि समतावस्था जीवात्मापरमात्मनः

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की अभिन्न अवस्था का नाम ही समाधि है। अतः नाना मार्गों से चलने वाले व्यक्तियों के लिये गम्य स्थान योग ही है। अतः योग वह लक्ष्य जिसको मनुष्य प्राप्त करना चाहा करता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से परमात्मा की उपासना करना चाहता हो, कितना ही कठिन से कठिन तप करता हो किन्तु उसको योग मार्ग का अवलम्ब लेना ही पड़ता है। ज्ञान मार्ग पर चलने वाले लोग ज्ञान धारणाओं को पुष्ट करते रहते हैं किन्तु ज्यों ज्यों उसकी ज्ञान धारणायें पुष्ट होती जाती हैं सों ही उनका उत्कृष्ट पुण्य बढ़ता जाता है ज्यों ही वह सिद्धियोग के विद्यार्थित्व की ओर बढ़ते चले जाते हैं। एवं बढ़ते-बढ़ते पुण्य के प्रभाव से सिद्धों का संगति को प्राप्त कर लेते हैं एवं मुक्तिभाजन बन जाते हैं। ध्यान धारणाओं के बहुत दिन के अभ्यास के बाद परम पुण्य एवं सिद्धानुकम्पा से बहुत देर के बाद सिद्धिभाजन हो पाता है। किन्तु योग मार्ग का अवलम्ब से लेने से मनुष्य बहुत जल्दी ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। पढ़ो योग उपनिषद में भगवान सदा शिव का यह उपदेश है :

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात्पापाश्च फलमाप्यते। ईदृशं तु भवेत्तत्द्धु क्त्वा ज्ञाना पुनर्भवेत। पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गेतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथो।। ततो नश्यति संसागे नान्यथा शिव या षितन्। योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे।। ज्ञानेनैव बिन योगो न सिध्यति कदाचन्। जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते। ज्ञानं तु जन्मनेकेन योगादेव प्रजायते। तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।।

अर्थात् शरीरान्त हो जाने के बाद इस प्रकार के गप और पुण्य के फलस्वरूप ज्ञान धारणा वालों को भी फल प्राप्त करना पड़ता है। जब इन लोगों का पुण्य उत्कृष्ट बढ़ जाता है तब पुण्य प्रभाव से सिद्धों के साथ संगति प्राप्त कर लेते हैं याना सिद्धानुकम्पा को प्राप्त कर लेते हैं। बाद में पुण्य के प्रभाव से मनुष्य सिद्ध संगति को प्राप्त होता है। एवं सिद्ध संगति को प्राप्त करके वह योगी बन जाता है। बहुत जन्मान्तर का प्रयत्न करने से ज्ञान-धारणाओं के द्वारा मनुष्य योग को प्राप्त होता है और योगाभ्यास के द्वारा ज्ञान एक ही जन्म में प्राप्त हो जाता है, अतः क्तिमु मार्ग के लिये योग से बढ़कर अन्य दूसरा साधन नहीं है। इसलिए है सौम्यः बिना योग मार्ग के मति भेद से प्राणी अनेकानेक मार्गों में भटकता रहता है। जल्दी से जल्दी मुक्ति प्राप्त करने के लिए योग-मार्ग ही एक उत्तमोत्तम साधन है। अतः साधक को चाहिए कि अपने तीव्रतम् प्रयास के द्वारा योग के उच्चतम मार्ग को प्राप्त करें एवं परमश्रेय का लाभ ग्रहण करें।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : कृपा कर बतलाइये कि शक्ति प्राप्त करने के क्या-क्या साधन हैं?

उत्तर : मनुष्य का मन शक्तिमय है किन्तु चञ्चल होने के कारण शक्ति उसमें प्राय: नहीं रहने पाती। प्राणीमात्र का मन भटकता रहा करता है कभी रूप को देखता है, कभी शब्द को सुनता है, कभी किसी का स्पर्श करता है, कभी गन्ध ग्रहण करता है आदि-आदि पांचों ज्ञानेन्द्रियों मन को अपने-अपने विषयों के अन्दर लगाये रहा करती हैं जिस ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा मन जहाँ लगता है उसी आकर्षण में अपनी बढ़ी हुई शक्ति को दे दिया करता है अत: वासना-भोग मनुष्य शक्ति से हीन होकर खाली हो जाया करता है। शक्ति संवर्द्धन का सबसे पहला उपाय है कि मनुष्य अपने मन को एकाग्र करें। ज्यों-ज्यों मनुष्य का मन एकाग्र रहेगा त्यों-त्यों उसमें शक्ति का विकास होता चला जायेगा और वह यदि अपने आपको वासना गर्त से बचा सका तो एक दिन शक्ति का केन्द्र बन जायेगा। अत: मन का एकाग्र होना ही शक्ति प्राप्ति का प्राथमिक साधन है।

प्रश्न : गुरुदेव! मनुष्य के मन में अशांति क्यों रहती है। प्राय: संसार में देखने में आता है कि प्राणी मात्र के मन दु:खी और अशांत हैं वह प्रयत्न करने पर भी सुख शांति की ओर नहीं जा पाते। अत: कृपा करके ऐसा उपाय बतला दीजिये जिससे मनुष्य का अशांत जीवन शांति और सुखमय हो जाये।

उत्तर : सौम्य! मन त्रिगुणात्मक है। मन में कभी सतोगुण का विकास होता है कभी रजोगुण का एवं कभी तमोगुण का विकास हुआ करता है। तमोगुण का मन जड़ रहा करता है रजोगुण का मन बहुत अधिक चंचल और अशांत रहा करता है और सतोगुण का मन बिल्कुल पवित्र शांत, प्रेम और आनन्दमय रहा करता है। अत: अशांत जीवन को शांत व सुखी बनाने के लिए अपने मन को सत्वस्थ बना लेना चाहिये। यदि साधक का मन सतोगुण से युक्त हो जायेगा तो उसका जीवन सुखी और शांत भी हो जायेगा आसुरी सम्पत्ति को छोड़कर वह दैविक सम्पत्ति वाला बन जायेगा और देवी सम्पत्ति मनुष्य की मुक्ति का कारण है।

प्रश्न : गुरुदेव! दैवी व आसुरी सम्पत्ति किये कहते हैं वह कृपा कर खोल कर बतलाइये।

उत्तर : दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन स्वयं अखिलात्मा आदि पुरुष भगवान श्रीकृष्ण ने अपने श्री मद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में किया है वह इस प्रकार से हैं :

दैवी सम्पत्ति के लक्षण

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: श:न्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्व लोलुप्तवं मार्दवं हीरचापलम्।।
तेज: क्षमा घृति: शौचद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

अर्थात् : प्राणीमात्र से निर्भयता उत्तरोत्तर सत्त्व की शुद्धि ज्ञान और योग में स्थिति, दान करना इन्द्रियों पर दमन करना, यज्ञ करना, स्वाध्याय करना, तपस्या एवं नम्रता, मनसा-वाचा-कर्मणा किसी को दु:ख न देना सत्य बोलना, किसी पर भी क्रोध न करना, त्याग की भावना का कायम रहना, मन की शान्ति-चापलूसता का अभाव प्राणी मात्र पर दया, सभी प्राणियों में लोलुपता का अभाव चपलता का अभाव बुद्धिमानी एवं नम्रता, तेज क्षमा धैर्य, शुद्धि, किसी से द्रोह न करना, मान सम्मान के झमेले में न फँसना यह सब दैवी सम्पत्ति के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त निम्नाङ्कित लक्षण आसुरी सम्पत्ति के हैं।

आसुरी सम्पत्ति

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातष्य पार्थ संपदमासुरीम्।।

अर्थात् :- दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध एवं कठोर बर्ताव और अज्ञान ये आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं।

''दैवी संपद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता''

दैवी सम्पत्ति मुक्ति का कारण है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का। अत: जो लोग योगाभ्यास के बल से अपने मन में दैवी सम्पत्ति का उदय कर लेते हैं उनका जीवन शांत और सुखी हो जाता है। अत: शांत व सुखी जीवन के लिये आसुरी संम्पत्ति को दबा कर दैवी सम्पत्ति को जगा लेना जरूरी है।

प्रश्न : प्रभो! ऐसा सुनने में आया है कि जिन आत्माओं का जन्म स्त्री जाति के अन्दर होता है उन सब का जन्म पुरुष जाति के अन्दर नहीं होता। वह हमेशा स्त्री योनियों में ही जन्म लेते रहेंगे चाहे वह मनुष्य योनि में जन्म लें चाहे पशु-पक्षी आदि में जन्म लें और चाहें देव लोक में वह अप्सरा ही बने किन्तु जन्म स्त्री जाति में ही रहेगा।

उत्तर : नहीं ऐसी कोई बात नहीं। स्त्रियों का स्त्री जाति में जन्म लेने का एक बहुत बड़ा कारण है और वह यह कि उनकी पूरी जिन्दगी स्त्री रूप में ही गुजरती है और देह त्याग करते समय भी उनके मन में स्त्रीत्व की भावना बनी रहती है। वे लोग शरीर छोड़ती हुई यह सोचती रहती हैं कि मैं मर रही हूँ, सामने मेरा पति खड़ा है, भाई बहन खड़े हैं पुत्र पौत्र खड़े हैं किन्तु अब मैं इन लोगों से अकेली बिछुड़ रही है। इसी धारणा के साथ वह देह त्याग कर देती है अत: जन्म उसे स्त्री जाति में ही लेना पड़ता है। जिस प्रकार से स्त्री जाति स्त्रीत्व का स्मरण करते हुए देह त्याग करती है इसी प्रकार से पुरुष जाति जन्म लेने वाला एक व्यक्ति जिन्दगी भर अपने आप को पुरुष समणता रहता है और देह त्याग के समय तक उसके मन में पुरुषत्व की भावना बनी रहती है। उस भावना के फलस्वरूप पुरुष जाति में ही जन्म लेता है। वैसे आत्मा एक निर्मल ज्योति है उसका पुलिङ्ग एवं स्त्री लिंग से कोई सम्बन्ध नहीं। स्त्री योनि में जन्म लेने से वह अपने आप को स्त्री मानता है और पुरुषों में जन्म लेने वाला अपने आपको पुरुष मानता है। इसी धारणा के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को अपने सजातीय शरीर को धारण करना पड़ता है। क्योंकि हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है कि—

यम यम वापि स्मरन्भावन त्यजत्यंन्ते कलेवरम्।
स तम तमैवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावित:।।

अर्थात् मनुष्य अन्तिम समय जिन जिन भावों का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है उन उन भावों से प्रेरित होकर के वह वैसा ही जन्म ग्रहण कर लेता है इसलिए योगाभ्यास परायण स्त्री यदि अपनी बुद्धि वृत्ति को आत्माकार बना लेती है और 'सोऽहम्' 'शिवोऽहम्' का रटन करती है, अपने आप को ब्रह्म स्वरूप देखती है और जानती है तो अवश्य ही वह पुरुषत्व में परिणत हो सकती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव साधना सफल जल्दी किस प्रकार हो सकती है और उसकी जल्दी सफलता के लिये साधक को किन-किन नियमों का पालन करना आवश्यक है?

उत्तर : सौम्य, श्री भगवान कृष्ण ने अपनी श्री मद्भवद्गीता में ज्ञान प्राप्ति के तीन उपायों का वर्णन किया है।

१. पहला उपाय— 'श्रद्धयालभतेज्ञानम्,' अर्थात् श्रद्धा के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है।

२. दूसरा उपाय— 'तत्परोज्ञानम् लभते' जो मनुष्य निष्ठा के साथ अपनी साधना में लगातार संलग्न रहता है वह ज्ञान को पा जाता है।

३. तीसरा उपाय— 'संयतेन्द्रियो ज्ञानम् लभते' अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों का पूरा नियंत्रण किया है वह ज्ञान को पा जाता है।

साधक तत्परता के साथ अपनी साधना में लगा रहे उसका श्रद्धा और विश्वास इतना अटल हो कि कोई भी उसके विचारों में परिवर्तन न कर सके। वह व्यक्ति अपनी संलग्नता के साथ दृढ़तापूर्वक श्रद्धा सहित लगा रहे और संयतेन्द्रिय हो, इन्द्रियों पर पूरा कन्ट्रोल हो जिससे ज्ञानेन्द्रियां उसकी साधना की उपार्जित निधि को खो न सके तो वह जल्दी से जल्दी साधना की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! परमात्मा के दर्शन करने का सरल उपाय क्या है जिससे जल्दी से जल्दी परमात्मा के दर्शन प्राप्त हो सकें।

उत्तर : सौम्य, स्वाध्याय की साधना ही एक ऐसी साधना है जिससे मनुष्य के हृदय में जल्दी से जल्दी परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है। हमारे शास्त्र का ऐसा नियम है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत्।
योगात् स्वाध्याय मामनेत्।।
स्वाध्याय योग सम्पत्तया।
परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् :– स्वाध्याय के बल से मनुष्य योग को प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय और योग दो की सम्पत्ति इकट्ठी हो जाने पर परमात्मा का प्रकाश हो जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्वाध्याय किसको कहते हैं और स्वाध्याय और योग दोनों का एक साथ अभ्यास कैसे करें। कृपा कर समझा दीजिये।

उत्तर : **सौम्य, प्रणवादि पवित्रानां जप स्वाध्याय:, मोक्ष शास्त्राणां मध्ययनमूवा स्वाध्याय:।**

अर्थात् :– ओंकारादि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है अथवा मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! प्रणवादि के अन्दर किन-किन नामों का समावेश है और मुक्ति दाता शास्त्र कौन-कौन से हैं।

उत्तर : सौम्य! प्रणवादि में ब्रह्मा, विष्णु शिव सभी के नाम हैं। यदि कोई साधक 'ॐ नम: शिवाय' जपता है, वह प्रणवादि है

और यदि कोई साधक 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' जपता है तो वह भी प्रणवादि है और यदि वह ''ॐ नमो नारायणाय'' जपता है तो वह भी प्रणवादि है और यदि वह ''ॐ नमो नारायणाय'' जपता है तो वह भी प्रणवादि है। इसी प्रकार से परमात्मा के अन्य नाम भी प्रणव के अन्दर समावेशित हैं। परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही दिखलाई देने लगता है। भूमण्डल पर जितने प्राणी हैं उन सभी में मति भेद है और अपनी-अपनी मतियों के अनुसार नाना मार्गों की कल्पना करके साधक परमात्मा की ओर चलते हैं और अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही प्रभु के स्वरूप को वह जान भी लेते हैं।

प्रश्न : प्रभो! कृपा कर मुक्ति दाता शास्त्र और बतालाइये।

उत्तर : मुक्तिदाता शास्त्रों में उपनिषद, गीता, रामायण, शिव सहस्र नाम, विष्णु सहस्रनाम, गोपाल सहस्रनाम आदि-आदि सभी मुक्ति दाता शास्त्रों के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! अब कृपा करके स्वाध्याय की साधना की विधि और समझा दीजिये जिससे मैं जन्म-मनण के चक्कर से बच जाऊँ।

उत्तर : वत्स! स्वाध्याय की साधना के साधक को चाहिये कि वह इस प्रकार के नियम बनाये जिससे उसका किसी भी प्रकार से पतन नहीं और उत्तरोत्तर उत्थान की ओर बढ़ता चला जायें। जैसे स्वाध्याय के साधक को चाहिये वह प्रात:काल लगभग ४ बजे ब्राह्म मुहूर्त में उठे शौच दातुन, स्नान एवं नैतिक व्यायाम करने के बाद वह अपनी साधना में बैठ जाये। साधक को प्रथम चाहिये कि वह किसी भी मन्त्र या नाम का दो घंटे लगातार जप करे। दो घंटे जप करने के बाद गुरुदेव की बताई विधि से अपने इष्ट देव का ध्यान करे। ध्यान कम से कम एक घंटा करे। एक घंटा ध्यान करने के बाद गद्‌गद् कंठ होकर किसी भी स्तोत्र का पाठ करे। जैसा भगवान शिव के उपासक के लिये शिव सहस्र नाम शिवमहिम्न स्त्रोत्र, शिव ताण्डव स्तोत्र, आदि-आदि का पाठ करें। इस प्रकार से साधक जप और स्वाध्याय परायण होकर अपने अभ्यास को छ: महीने यदि लगातार निभा जाता है तो उसको प्रवृत्यालोक हो जाता है। और वह व्यक्ति योग ध्यान परायण बन जाता है। जो साधक जल्दबाजी में पड़े रहते हैं वह लोग यथार्थता को नहीं पा सकते। शास्त्र का सिद्धांत है:

जपश्रान्तः शिवं ध्यायेद् ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।
जप ध्यान समायुक्तः परं ब्रह्माधि गच्छति।।

अर्थात् : जप से थका हुआ भगवान् शिव का ध्यान करे और ध्यान से थका हुआ उनके नाम व मन्त्र का जप करें। जप और ध्यान में लगा हुआ मनुष्य अवश्य-अवश्य परब्रह्म को पा जाता है। यह परम कल्याण दात्री साधना है। जो लोग इसका पालन करेंगे। वे लोग अवश्य ही नि:श्रेयस सिद्धि के अधिकारी बन जायेंगे।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव! मेरी यह जानने की बड़ी प्रबल इच्छा है कि जीव माता के गर्भ में जा करके किन-किन स्थितियों में रहा करता है? कृपा करके जीव की गर्भावस्था वर्णन कीजिए। ताकि मुझे यह ज्ञात हो जाय कि हम सभी लोग किन-किन कठिनाइयों के साथ माता के उदर में पुष्टि पाकर संसार में जन्मे हैं।

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक है। इस प्रकार की जिज्ञासा होनी ही चाहिए, जिससे साधक मात्र अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर सके और मनुष्य जीवन की सार्थकता को समझकर अपने यथार्थं लक्ष्य की ओर बढ़ सकें। देखो पुत्र! उपनिषदों में एक छोटी सी उपनिषद् है, जिसका नाम गर्भोपनिषद है। इस छोटी सी पुस्तक में केवल मात्र जीव की गर्भावस्था का ही वर्णन किया है। देखो उपनिषद् के वचन—

ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति। सप्त-रात्रोषितं बुद्‌बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति, मासद्धयेन शिरः सम्पद्यते। मासत्रयेण पाद प्रदेशों भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फजठर कटि प्रदेशाः भवन्ति। पंचमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठेमास मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमेमासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे-मासे सर्व लक्षण संपूर्णो भवति। पितरेतोऽतिरेकात् पुरुषो मात्रेतोऽतिरेकात् स्त्री उभयोबीजतुल्यत्वान्न पुंसको भवति। व्याकुलित मानसोऽन्धाः खज्जाः कुज्जा वामनाः भवन्ति। अन्योन्यवायु परिपीडित शुक्रद्वैविध्यात्तनुस्यात् ततो युग्मा प्रजायन्ते।

अर्थात् ऋतुकालान्तर प्रथम रात्रि के संपर्क से पित्त की प्रधानता से कलल (धातु) होता है एवं सात रात्रि बीज जाने पर वह वीर्यं बुलबुले का रूप धारण कर लेता है। आधे मास के बाद वह पिण्ड के रूप में बदल जाता है। एक मास का अन्तर पा करके वही पिण्ड कठिन हो जाता है और दो मास के बाद शिर बन जाता है और तीन मास के बाद पाद-प्रदेश बन जाता है। चौथे महीने में गुल्फ उदर एवं पीठ का भाग बन जाता है और पांचवे महीने में मेरुदण्ड बनकर तैयार हो जाता है एवं छठे महीने में मुख, नासिका, आँख और कान आदि बन जाते हैं और सातवें महीने में जीव चेतना-सम्पन्न हो जाता है। आठवें महीने मे सर्वाङ्गपूर्ण सर्व लक्षण-सम्पन्न पुतला तैयार हो जाता है। पिता का वीर्य अधिक होने से पुरुष। माता का रज अधिक होने से स्त्री (कन्या) और दोनों का वीर्य तुल्य होने से नपुंसक होता है। व्याकुलित मन होते हुए अगर गर्भाधान हो तो अन्धा, खञ्जा, कुबड़ा और वामन होता है और एक-दूसरे के वायु पीडन से वीर्य के दो भाग हो जाने से युग्मा पैदा होते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इस प्रकार से पुतला तैयार हो जाने के बाद आगे की क्या स्थिति होती है? जीव चेतनता प्राप्त हो जाने के बाद किन-किन बातों का स्मरण करता है और कितनी कठिनाइयों के साथ वह पैदा होता है? उसके मन में उस समय क्या-क्या संस्कार बनते हैं? कृपा कर यह सभी मेरे को समझाइये ताकि मैं भी कल्याण-मार्ग का अनुसरण कर सकूँ।

उत्तर : हे पुत्र! यह सब बातें तुम उपनिषद के ही वाक्यों में पढ लो। हम उपनिषद का यह भाग तुम्हें देते हैं, जिससे तुम पूर्वाचार्यों के वाक्यों को पढ करके अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सको एवं मनुष्य-जन्म को सार्थक बना सको। पढो उपनिषद का यह भाग :—

अथ नवमेमासि सर्वलक्षण ज्ञानकरण सम्पूर्णो भवति। पूर्वं जातिं स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति। पूर्व योनि सहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। जातश्चैव मृतश्चैव जन्मचैव च पुनः पुनः। यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्मं शुभाशुभम्। एकाकी तेन दह्येयं गतास्ते फल भोगिनः। अहो दुःखोदधौ मग्ने न पश्यामि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।

यदि योन्याः प्रमुच्येहं,

तत्प्रपध्ये नारायणम्।

अशुभयय कर्तारं,

फलमुक्ति प्रदायकम्।।

यदि योन्याः प्रमुच्येहं,

तत् सांख्यं योगमभ्यसे।

अशुभक्षय कर्तारं,

फलमुक्ति प्रदायकम्।।

यदि योन्याः प्रमुच्येहं,

ध्याये ब्रह्म सनातनम्।

अथ योनि द्वारं सम्प्राप्तो यंत्रेणा पीड्यमानो महता दुःखेन जात मात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभम् विन्दति।

अर्थात् इसके बाद नवमा महीना प्राप्त होने पर सर्व लक्षण-सम्पन्न ज्ञानेन्द्रियों से युक्त हो जाता है। अपनी पूर्व जाति का स्मरण करता है, पाप-पुण्य के फल को प्राप्त करता है। वह देखता है, मेरे हजारों जन्म हुए, विविध प्रकार के भोजन किये, नाना प्रकार के दूध पिये। बार-बार जन्मा और मेरा, जो मैंने अपने परिजनों के लिए पाप और पुण्य के कर्म किये, उन सबके कारण मैं अकेला जल रहा हूँ। वह फल-भोगी लोग सबके-सब चले गये हैं। अहो! मैं कितने दुःख सागर में डूबा हुआ हूँ, किन्तु इससे निकलन का कोई उपाय नहीं दीख रहा। कदाचित् भगवान की मुझ पर कृपा हो जाय और मैं माता के योनि-द्वार से बाहर निकल जाऊँ, तो मैं भगवान महेश की शरण लूँगा। जिससे मेरे पाप कर्म का नाश हो जाय और जन्म-मरण से मेरा छुटकारा हो जाय। यदि अबकी बार मैं योनिद्वार से बाहर निकल गया तो मैं भगवान नारायण की शरण लूँगा, जिससे मेरे पाप-कर्मों का नाश हो जाय। यदि मैं अबकी बार योनि-द्वार से बाहर निकल गया तो साँख्य योग का अभ्यास करूँगा, जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो जाय और मुक्ति मिल जाय। यदि मैं अबकी बार योनि-द्वार से निकल गया तो परम सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा, जिससे मेरे पाप-कर्मों का नाश हो जाय और मुक्ति मिल जाय इत्यादि। घोर प्रतिज्ञायें करता है और फिर योन-द्वार को प्राप्त होकर कोल्हू में पिरते हुए के समान बड़े भारी दुःख से पैदा होकर भगवान विष्णु की त्रिगुणात्मिका माया की वायु से स्पर्श किया हुआ जन्म और मरण के दुःख को भूल जाता है। अपने शुभाशुभ भोग के कर्मों में लग जाता है। बच्चा होकर खेलता है, खाता है, हंसता है। शनैः-शनैः युवा हो जाता है। यौवन की तरङ्गों में जीवन व्यतीत हो जाता है एवं बुढ़ापा आ जाता है। बुढ़ापे में सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। करना चाहता हुआ भी कुछ नहीं कर पाता, यही भगवान की त्रिगुणमयी माया का विस्तार है। जिसको मनुष्य अपने जीवन में पार नहीं कर पाता।

प्रश्न : हे गुरुदेव! गर्भ में इतना घोर दुःख उठाना पड़ता है और जन्म ग्रहण करना ही मुश्किल हो जाता है यथातथा यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म मिल जाता है और उस पर भी घोर प्रतिज्ञायें करके मनुष्य जन्म लेता हैं, किन्तु फिर भी माया-मोह के जाल में फँसा हुआ अपनी जिन्दगी में कुछ नहीं कर पाता। सो हे गुरुदेव! कोई ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे मैं इस जन्म-मरण के दुःख से बच सकूं।

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारा यह प्रश्न बहुत ही सुन्दर है और विचार करने वाले के लिए परम लाभदायक भी है। तुम्हारे किये हुए प्रश्नों को और हमारे दिये हुये उत्तरों को जो पढ़ेगा, उसका भी इससे भला ही होगा। ठीक इसी प्रकार का एक प्रश्न ब्रह्माजी ने श्री सदा-शिव से पूछा था वे सब ये हैं—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखै-

र्माया जालेन वेष्टिताः।

तेषां मुक्ति कथं देव,

कृपया वद शङ्कर।।

सर्व सिद्धि करं मार्गं,

मायाजाल निकृन्तनम्।

जन्म मृत्यु-जरा-व्याधि,

नाशनं सुखदं वद।।

इति हिरण्यगर्भः प्रषच्छ,

स हो वाच महेश्वरः।।

अर्थात् श्री ब्रह्माजी ने भगवान सदाशिव से पूछा कि- हे महेश्वर! सारे के सारे जीव माया-जाल से घिरकर सुख और दुःख को भोगते रहते हैं। कृपा करके यह भी बतलाइये कि इन लोगों की मुक्ति किस प्रकार हो। कोई ऐसा रास्ता बतलाइये कि जा माया-जाल को काट करके जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि का नाश करने वाला हो, जिससे मनुष्य जल्दी सिद्धि को प्राप्त कर जाय।

इस प्रश्न के उत्तर में श्री महादेव जी ने जो बात कही वह इस प्रकार है—

स हो वाच महेश्वरः।

नाना मार्गैस्तु दुष्प्राषं,

कैवल्यं परमं पदम्।।

सिद्धिमार्गेण लभते,

नान्यथा पद्म संभव।

पतिताः शास्त्र जालेषु,

प्रज्ञया तेन मोहिताः।।

स्वात्म प्रकाशरूपं,

तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते।

निष्कलं निर्मलं शान्तं,

सर्वातीतं निरामयम्।।

अर्थात् भगवान महादेव जी बोले— हे ब्रह्मा जी! जीवात्मा का परम कल्याण तो परम श्रेयस्कर सिद्धि-मार्ग से ही हो सकता है। मतभेद के कारण जो लोग इधर-उधर नाना प्रकार के मजहबों में भटकते रहते हैं, वे सिद्धि को नहीं पा सकते। शास्त्रों के आधार पर तर्क-वितर्क के जाल में फँसे रहते हैं। वह निष्फल, निर्मल, सर्वदा शान्त, निरामय, सर्वातीत, स्वात्म, प्रकाश शास्त्र जाल से किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। वही स्वानन्द-स्वरूप स्वरूप अंश-रूपेण जीव-रूप से भाषित हो रहा है। क्योंकि काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, जन्म-मृत्यु, कार्यण्यता शोक, तन्द्रा क्षुधा, तृषा-तृष्णा, लज्जा, भय, विषाद और हर्ष ये सब जीवात्मा में भाषित होते रहते हैं। यदि जीवात्मा इन दोषों से रहित हो जाय तो वह स्वयं शिव ही है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! कृपापूर्वक इन दोषों से छूटने का कोई उपाय बतलाइये, जिससे जन्म और मरण से छुटकारा मिल सके।

उत्तर : हे सौम्य! अपने-अपने मतभेद के अनुसार उपाय तो सभी लोग बतलाते हैं, किन्त बिना योग के सभी साधन सफलता के उच्चतम लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकते। केवल योग का ही एक ऐसा रास्ता है, जो मनुष्य को मुक्ति-द्वार तक ले जा सकता है। उसका वर्णन हम आगे के किसी दूसरे सत्सङ्ग में करेंगे। जिसको तुम गौर के साथ सुन लेना, जिससे तुम पवित्रतम योग का अनुसरण कर सको। तुम कल्याण के आदि श्रोत इस योग को जानकर कृतार्थ हो जाओगे।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! क्या यह सत्य है कि जीव बिना योग के मोक्ष को प्राप्त नहीं होता?

उत्तर : हाँ सौम्य! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि योग-मार्ग को अपनाये बिना जीवात्मा मोक्ष का भागी नहीं बनता, क्योंकि योग ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके अवलम्बन से जीवात्मा क्लेश-कर्म, विपाकादि को नष्ट करके अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर जीव स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। उसकी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सभी प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं और शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं और वह जन्म-मरण चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत जो लोग योग-साधना में प्रवृत्त नहीं होते, उनके परम कल्याण में सन्देह बना ही रहता है। उपनिषदों में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि,
धर्मज्ञो विजितेन्द्रिय।
बिना योगेन देहेन,
न मोक्षं लभते नरः।।

अर्थात् मनुष्य भले ही परम ज्ञानी हो, वैराग्यवान हो, धर्मात्मा हो और जितेन्द्रिय हो, किन्तु बिना योगमय देह प्राप्त किये वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता।

यही कारण है कि जगन्नियन्ता आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को योगी बनने का उपदेश दिया। यथा—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिका।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।।

तपस्वी योगी का दर्जा ऊँचा है, ज्ञानी से योगी श्रेष्ठ है तथा कर्मकाण्डों से भी योगी का स्थान ऊँचा है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन।

प्रश्न : परमपूज्य गुरुदेव! योग क्या है? इसे सविस्तार समझाने की कृपा कीजियेगा।

उत्तर : हे सौम्य! योग-दर्शनकार भगवान् पतञ्जलिदेव ने योग की परिभाषा बताते हुए कहा है—''योगश्चितवृत्ति निरोधः।'' चित्त वृत्तियों का पूरी तरह रुक जाना ही योग है। अर्थात् चित्त में किसी भी प्रकार की वृत्ति का शेष न रहना, इन्द्रियों का बहिमुखी प्रवाह रुककर अन्तर्मुखी बन जाना और जीवात्मा का परमात्मा में लीन हो जाना ही योग है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! चित्त वृत्तियाँ किसे कहते हैं? वे कितने प्रकार की होती हैं और उनका रोकना जरूरी क्यों है?

उत्तर : सौम्य! मन में उठने वाली हर प्रकार की हरकत को वृत्ति कहा जाता है। ये समुद्र में उठने वाली तरंगों की तरह असंख्य होती हैं और हमारे मन को चञ्चल बनाये रखती हैं। इनमे मुख्य रूप से पाँच प्रकार की ही वृत्तियाँ होती है जो कि अन्य वृत्तियों की जन्मदाता हुआ करती हैं। वे हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन पाँचों के भी क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप से दो दो भेद हैं।

क्लिष्टा वृत्तियाँ जीवात्मा को पाप-कर्म में प्रवृत्त करती हैं और अक्लिष्टा वृत्तियाँ उसे पुण्य कर्मों में लगाती हैं। जब तक ये वृत्तियाँ बनी रहती है तब तक जीवात्मा पाप-पुण्य के झमेले में पड़ा रहता है और उसी के फल स्वरूप बार-बार जन्म लेता रहता है। योग साधना द्वारा इन वृत्तियों को जड़ से समाप्त कर दिये जाने पर पाप पुण्यात्मक कर्माशय क्षीण हो जाता है, वासना-बीज दग्ध हो जाता है, जिसे पाकर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। अखिल लोक-पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण के शब्दों में—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं,
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्थितो न दुःखेन,
गुरुणापि विचाल्यते।।

जिस अलभ लाभ को पाकर जीव कृतार्थ हो जाता है और उससे बढ़कर अन्य लाभ कुछ नहीं समझता तथा जिस स्थिति को पाकर मनुष्य महान् से महान् दुःख उपस्थित हो जाने पर भी विचलित नहीं होता, उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न : गुरुप्रवर! सन्तों की वाणी में गुरुदेव की आराधना को ही विशेष महत्व दिया गया है। रामचरित मानस में तो यहाँ तक कहा गया है कि—

बिन गुरु भवनिधि तरइ न कोई।
जो विरञ्चि शङ्कर सम होई।।

इसका क्या कारण है? यदि यह बात सत्य है तो यह बतलाने की कृपा कीजिये कि योग का गुरुदेव के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या बिना गुरु के योग-साधना नहीं की जा सकती?

उत्तर : प्रिय वत्स! सन्त तुलसीदास जी की वाणी अक्षरश: सत्य है, उसमें तनिक भी सन्देह की गुञ्जायश नहीं है। जहाँ तक योग का सम्बन्ध है, वह तो विद्या ही गुरु-गम्य है। बिना गुरु के मनुष्य उसमें आगे बढ़ ही नहीं सकता। योग विद्या ही आत्म-विद्या है और सब विद्याओं में सूक्ष्म है। अत: इस विद्या के पारङ्गत सूक्ष्मदर्शी सिद्ध गुरु ही योग-साधक को अन्तर्जगत में प्रवेश करा सकते हैं। बिना गुरु कृपा से साधक का अपना पुरुषार्थ विशेष फलदायी नहीं हुआ करता। यह बात अलग है कि साधक अपने तप और स्वाध्याय के बल से स्वयं को इस योग्य बना ले कि उस पर अनायास ही सिद्ध-कृपा हो जाये। इस प्रकार उसे भी अन्त में सिद्ध गुरु की शरण ही लेनी पड़ती है। कठोपनिषद में यह बात स्पष्ट की गई है—

उत्तिष्ठत जाग्रत,
प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारा निक्षिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

अरे मनुष्यों! तुम चिरकाल से अज्ञानरूपी घोर निद्रा में सोये हुए हो। अब भी समय है, उठो, जागो और महापुरुषों की शरण में जाकर तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त करके अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानो। बिना गुरु के योग मार्ग पर चलना तलवार की तीखी धार पर चलने के समान कठिन है, ऐसा अनुभवी संत बताया करते हैं।

अत: महात्मा तुलसीदास जी का यह कथन यथार्थ है कि— ''बिन गुरु भव निधि तरइ न कोई।'' शास्त्रों मे अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। पद्मपुराण में यही बात कही गई है—

गुरो: कृपा प्रसादेन ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा:,
सामर्थ्यं तत्प्रसादेन केवलं गुरु सेवया।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भी गुरुदेव की सेवा करने से उनकी कृपा को पाकर सामर्थ्यवान् बने और ब्रह्मत्व, विष्णुत्व तथा महेश्वरत्व को प्राप्त हुए। तथा—

न मुक्ता देवगन्धर्वा:,
पितरो यक्ष किन्नरा:।
ऋषय: सर्व सिद्धाश्च,
गुरुसेवा पराङ् मुखा:।।

अर्थात् देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, ऋषि तथा सिद्ध-पुरुष भी गुरु-सेवा से विमुख होकर मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए।

यहाँ यह बात विशेष रूप से समझने योग्य है कि गुरु कोई शरीर नहीं हुआ करता, काल की हद से परे ईश्वर की परा सत्ता को ही गुरुदेव कहा जाता है।

श्री गुरुगीता में गुरुदेव का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं,
केवलं ज्ञानगम्यं।
द्वन्दातीतं गगनसदृशं,
तत्वमस्यादिलक्ष्यम्।।
एकं नित्यं विमलमचलं,
सर्वदा साक्षिभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं,
सद्गुरूं तन्नमामि:।।

ब्रह्मानन्द स्वरूप, परम सुख के देने वाले, केवल ज्ञान के द्वारा जानने योग्य, सुख-दु:खादि द्वन्दों से परे, आकाश के समान सर्व व्यापी, ''तत्वमसि'' आदि महावाक्यों के उपदेष्टा, एक, नित्य, निर्मल, अचल, सदा साक्षी रूप में साथ रहने वाले, भाव से परे और त्रिगुणातीत उस सद्गुरुदेव को नमस्कार है।

'गु' शब्द अन्धकार का बोधक है और 'रु' शब्द का अर्थ है, उसे हटाने वाला। अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाने वाली ईश्वर की परात्पर-सत्ता ही सद्गुरु-सत्ता है और उसकी आराधना हर साधक को करनी ही चाहिए।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परम पूज्य गुरुदेव! कृपा करके यह बतलाइये कि गीता को योग-शास्त्र क्यों कहा गया है?

उत्तर : प्रिय सौम्य! गीता योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रकट हुई है और उसमें आदि से लेकर अन्त तक योग-विद्या का उपदेश किया गया है। पुरुष क्या है? प्रकृति क्या है? जीवात्मा क्या है? इन सभी गूढ़ बातों को श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसी सरल भाषा में समझाया गया है कि साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी उसे पढ़कर और उस पर आचरण करता हुआ योगारूढ़ हो सकता है।

प्रश्न : गुरुदेव! क्या गीता का नियम पूर्वक पाठ करने वाला व्यक्ति योगी बन सकता है?

उत्तर : हाँ सौम्य! जो व्यक्ति नियम पूर्वक पूर्ण श्रद्धा से गीता-पाठ करता है, वह कालान्तर में योग में प्रवेश पा ही जाता है। क्योंकि गीतापाठ रूप स्वाध्याय के फलस्वरूप उसके अन्दर पुण्य संगृहीत होता रहता है, जिससे वह सिद्धकृपा का अधिकारी बन जाता है। इसके अतिरिक्त गीता के अध्ययन और मनन से उसे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध होता है तथा प्रकृति के रहस्यों को समझकर वह सात्विक बन जाता है। यह सात्विकता ही मन की एकाग्रता की जननी है, यहीं से योग का आरम्भ होता है।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! गीता में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीन प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है। इन तीनों में से कौनसा श्रेष्ठ है?

उत्तर : प्रिय वत्स! कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीनों समाधि प्राप्ति के साधन हैं। वस्तुत: योग तो एक ही होता है। योग का अर्थ है- समाधि। उस सामाधिरूप योग को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली जिस क्रिया (साधना) में जिस विषय की प्रधानता रहती है, वहाँ उसे उस योग से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए— एक व्यक्ति फल की इच्छा न रखता हुआ कर्त्तव्य-पालन के उद्देश्य से परोपकार के कार्य करता है। वह कुये बनवाता है, बगीचे लगवाता है, मन्दिर बनवाता है, यज्ञ दान तप आदि पुण्य के कार्य करता है। किन्तु वह उसमें न तो फल की इच्छा रखता है न उसकी उन चीजों में ममता है और न वह स्वयं को उन कार्यों का कर्त्ता ही समझता है, तो ऐसा व्यक्ति कर्मयोगी कहलाता है और इस प्रकार की साधना को कर्मयोग कहा जाता है। इसी प्रकार जिस साधना में भक्ति की प्रधानता हो, उसे भक्तियोग और जिसमें ज्ञान की प्रधानता हो, उसे ज्ञानयोग कहा जाता है।

प्रश्न : आपकी कृपा से कर्मयोग का स्वरूप तो मैं भलीभाँति समझ गया हूँ। अब यह भी बतला दीजिये कि कर्मयोग कि कर्मयोग से मनुष्य समाधि रूप योग को कब और कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर : हे सौम्य! गीता में साधनयोग के लिए ही कर्मयोग शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्मयोग क्या है? यह पहले बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यम-नियमों का पालन करना, गीता के छठे अध्याय में श्लोक ११ से लेकर २३ तक बताई विधि के अनुसार ध्यानाभ्यास करना तथा प्राणायाम का अभ्यास करना कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग से मनुष्य किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त होता है? इसका वर्णन अखिलात्मा श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित श्लोकों में किया है–

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः, कालेनात्मनि विन्दति।।

इस संसार में परमात्म-तत्व के ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है और वह ज्ञान दीर्घकाल तक कर्मयोग के अभ्यास द्वारा पवित्र हुए अन्त:करण में कालान्तर में स्वयं प्रकट हो जाता है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति।।

श्रद्धालु, साधना में लगा रहने वाला और संयमी व्यक्ति परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उस ज्ञान को पाकर वह शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न : गुरुदेव! अब कृपा करके भक्तियोग का यथार्थ स्वरूप भी समझा दीजिए।

उत्तर : प्रिय वत्स! यह तो मैं तुम्हें पहले बता ही चुका हूँ कि परमात्मा-तत्व की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले साधन को साधनयोग कहा जाता है। गीता में उसे कर्मयोग कहा

गया है। उस कर्मयोग की साधना में यदि भक्ति की पराकाष्ठा हो, साधक सर्वतोभावेन ईश्वर को आत्म-समर्पण कर दे तो वही साधना भक्तियोग कहलाती है। योग-दर्शन में उसे ही ईश्वर-प्रणिधान कहा गया है। गीता में इस भक्ति प्रधान कर्मयोग को निष्काम कर्मयोग और अनासक्ति कर्मयोग भी कहा गया है।

प्रश्न : गुरुदेव! यह बात तो मैं भली-भाँति समझ गया हूँ कि भक्तियोग भी कर्मयोग के अन्तर्गत आता है, किन्तु यह नहीं समझ पाया कि क्या ज्ञानयोग भी कर्मयोग का ही अङ्ग या वह कुछ और विषय है?

उत्तर : सौम्य! यह तुम ठीक ही सोच रहे हो कि ज्ञानयोग भी कर्मयोग का ही अङ्ग है। अन्तर केवल इतना है कि कर्मयोग में भक्तियुक्त कर्म ही प्रधानता रहती है, जबकि ज्ञानयोग में वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता रहती है।

ज्ञानी समझता है कि यह सारी सृष्टि सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों का विकार है। इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं, गुण गुणों में बरत रहे हैं, मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा। वह अपने को सर्वथा निर्लिप्त समझता है और असङ्ग रखता है।

जैसे कर्मयोग और भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञानयोग में भी कोई अन्तर नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड नायक श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भवगद्गीता में अपने मुखारविन्द से यह बात स्पष्ट की है-

संख्ययोगौ पृथग्वाला, प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।

अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग को मूर्ख लोग ही पृथक-पृथक् समझते हैं न कि विद्वान लोग। क्योंकि दोनों में से एक में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ मनुष्य दोनों में से एक में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ मनुष्य दोनों के फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न : गुरुदेव! गीता में संयम को ही योगसिद्धि का रहस्य बताते हुए कहा गया है-

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्योत्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः।

अर्थात् असंयमी व्यक्ति को योग की प्राप्ति नहीं हो सकती और जो यत्नपूर्वक मन सहित इन्द्रियों को श में कर लेता है, वह अपने इस पुरुषार्थ से योगसिद्धि को पा जाता है।

तथा इसके साथ ही—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येणच गृह्यते

कहकर अभ्यास और वैराग्य को ही संयम का आधार बतलाया है। क्या यह अभ्यास और वैराग्य पूर्वोक्त कर्मयोग में ही आ जाता है या उनसे भिन्न कोई और उपाय है?

उत्तर : प्रिय वत्स! तुम योग के उत्तम जिज्ञासु मालूम पड़ते हो जोकि इस प्रकार के अत्यन्त गूढ़ प्रश्न कर रहे हो। तो सुनो- जिस कर्मयोग को मैंने अभी समझाया है उसे ही गीता में ध्यानयोग और अभ्यासयोग के नाम से भी अभिव्यक्त किया गया है। योग दर्शन में उसे ही क्रियायोग, साधनयोग और अष्टाङ्गयोग आदि नामों से वर्णित किया गया है। अतः मन पर संयम करने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से किया जाने वाला योग साधन ही यहाँ अभ्यास का वाचक है और उस अभ्यास में दृढ़ता लाने के लिए संसार को असार समझते हुए विषयों से असङ्ग रहना वैराग्य कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि गीता में योग निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा नामक जिन दो निष्ठाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें योगनिष्ठा अभ्यास का वाचक है और ज्ञाननिष्ठा वैराग्य का।

प्रश्न : हे प्रभो! आज के सत्सङ्ग में आपने मुझे गीता का सार समझाकर कृतार्थं कर दिया है, फिर भी सिद्धयोग के विषय में गीता कार का क्या मत है? यह मैं अभी तक नहीं जान पाया। अतः कृपा करके मेरी यह जिज्ञासा भी शान्त कीजिये।

उतर : सौम्य! क्या तुम अध्याय ४ के ३४ वें श्लोक को भूल गये हो, जिसमें जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सिद्धयोग का उपदेश दिया है जैसे—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।

तू उस ज्ञान को सिद्ध गुरुओं की शरण में जाकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करके, जिज्ञासा प्रकट करते हुए उनकी खूब सेवा करके प्राप्त कर। तुम्हारी सेवा तथा सरल व्यवहार से प्रसन्न होकर वे तत्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें तत्वज्ञान का उपदेश दे देंगे।

बाद में जब अर्जुन शिष्य रूप में उनके सामने उपस्थित हुआ तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन पर शक्तिपात करके उसे अपना वास्तविक स्वरूप दिखला दिया और इस प्रकार उक्त बात को सिद्ध कर दिया।

प्रश्न : गुरुदेव! अब तो गीता को एक उत्तम योगशास्त्र कहा जा सकता है।

उत्तर : वत्स! इसमें सन्देह ही क्या है? अपनी इन विशेषताओं के कारण ही तो गीता सभी देशों में आदर पा रही है तथा उसके दिव्य उपदेश से सब लाभ उठा रहे हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! कृपा करके आप बतलाइये कि इस घोर कलिकाल में इतनी जनसंख्या क्यों बढ़ती जा रही है? जब कि यह युग तम प्रधान है, फिर इतनी जनसंख्या बढ़ने का क्या कारण है?

उत्तर : हे वत्स! देखो। इसका कारण केवल एक ही है। जैसा कि- हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि स्वर्गीय प्राणी ''ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति''अर्थात् पुण्यात्मा जीव उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्यक्षीण हो जाने के बाद मनुष्य लोक में आकर जन्म ले लेते हैं। ठीक इसी प्रकार यही नियम निम्न नारकीय लोकों में वास करने वाले प्राणियों में भी लागू है। अर्थात् क्षीणे पापे मर्त्यलोकं विशन्ति' वाली बात भी है। तीव्रंतम नारकीय यातनाओं को भोगते भोगते जब पापकर्मो का अन्त होने लगता है तब वह प्राणी नरक वेदनाओं से छूटकर पुन: मनुष्य लोक में आकर जन्म ले लेते हैं और फिर यहाँ आकर अपनी अपनी वासनाओं के अनुरूप कर्म किया करते हैं। फिर जैसी जैसी जिसकी वासना होती है वे प्राणी वैसा ही कर्म विपाक तैयार कर लिया करते हैं। यह वृत्ति संस्कार चक्र अहर्निश चलता रहता है, जिसके कारण प्राणी जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! जो प्राणी स्वर्गलोक से आते हैं उनका शील-स्वभाव कैसा हुआ करता है वे क्या खाते हैं क्या पीते हैं और उनका आचार-विचार कैसा होता है, तथा इसी प्रकार जो प्राणी नरक लोक से आते हैं उनका आचार-विचार एवं व्यवहार कैसा हुआ करता है, कृपा करके इस विषय को समझाइये साथ ही यह भी बतला दीजिये कि कौन प्राणी स्वर्ग को जाता है और नरक को जाता है और कौन नरक को जाता है और कैसे प्राणी मनुष्य लोक में रहा करते हैं।

उत्तर : हे पुत्र सुनो! तुम्हारी यह जिज्ञासा बहुत ही अच्छी है। अत: तुम्हें यह सब बातें निर्णयपूर्वक बतला रहे हैं। देखो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीन प्रकृति संभव गुण हैं। इन्हीं के आधार पर सकल सृष्टि चलती है। सारे संसार की रचना इन तीन गुणों के आधार पर ही होती है। जो लोग सतोगुण प्रधान होते हैं वे स्वर्गादि ऊपर के लोकों को चले जाया करते हैं, रजोगुण प्रधान प्राणियों का जन्म मनुष्य लोक में हुआ करता है और जो जीव तमोगुण प्रधान होते हैं वे सब नारकीय यातनाओं को भोगा करते हैं। अखिल लोक पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने एक ही श्लोक के अन्दर इन तीनों का वर्णन किया है। जैसे-

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्वस्था:,
मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्य गुणवृत्तिस्था:,
अधो गच्छन्ति तामसा:।।

अर्थात् सत्वस्थ लोक ऊपर के लोकों में चले जाया करते हैं, रजोगुण प्रधान इस मनुष्य लोक में रहा करते हैं और निकृष्ट वृत्ति वाले लोग नीचे के लोकों में जाकर वास किया करते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने कहा था कि हम स्वर्गलोक से आने वाले लोगों के गुण, शील, स्वभाव बतलायेंगे तथा नारकीय प्राणियों के गुण, शील, स्वभाव बतलायेंगे। अत: कृपा करके बतला दीजिए कि स्वर्ग से आने वाले प्राणियों का गुण, शील, स्वभाव कैसा होता है?

उत्तर : हे वत्स! श्री चाणक्य जी ने अपनी 'चाणक्यनीति' के सातवें अध्याय में इन दोनों प्रकार के प्राणियों के लक्षण लिखे हैं। सो तुम्हारे हित के लिये उसे यहाँ बतला रहे हैं।

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके,
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दान प्रसंगो मधुरा च वाणी,
देवार्चनं ब्राह्मण तर्पणश्च।।

अर्थात् स्वर्गलोक से आकर जन्म लेने वाले प्राणियों के अन्दर ये लक्षण हुआ करते हैं। उनकी प्रवृत्ति दान-पुण्य में अधिक रहती है, वाणी अत्यन्त मीठी होती है- वे मीठी बोलकर ही दूसरों को वश में कर लेते हैं, देवताओं की पूजा किया करते हैं और ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! ये लक्षण तो स्वर्ग से आने वाले प्राणियों के हुए किन्तु जो लोग नरक से आते हैं उनका शील स्वभाव कैसा होता है? कृपया यह भी बतला दीजिये।

उत्तर : हाँ हाँ! चिरञ्जीव! तुम धैर्य रख हम वही बतला रहे हैं। देखो चाणक्य जी महाराज कहते हैं–

अत्यन्त कोपः कटुका च वाणी,
दरिद्रता च सवजनेषु बैरम्।
नीच प्रसंगः कुलहीन सेवा,
चिह्नानि देहे नरकास्थितानाम्।।

नरक लोक से आने वाले प्राणी अत्यन्त क्रोधी होते हैं, उनकी वाणी बहुत कड़वी होती है। उनके घर में सदा दरिद्रता का वास होता है, वे स्वजनों में वैर रखते हैं, नीच की सेवा किया करते हैं। ये सब लक्षण नरक लोक से आने वाले प्राणियों में रहा करते हैं।

प्रश्न : परम पूज्य गुरुदेव! नारकीय प्राणी तो बहुत बुरे होते हैं। कृपा करके यह उपदेश दीजिये कि इस कलिकाल में जन्म लेकर हम लोग नारकीय यातनाओं से बच सकें और दिव्य देवलोक को भोग सकें।

उत्तर : हे पुत्र! नारकीय यातनाओं से बचने के लिये तुम चाण्क्य जी के इस श्लोक को ही देख लो :—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात,
विषयान्विषवत्यज–
क्षमार्जवं दया शौचं,
सत्यं पीयूषवत्पिव।।

अर्थात् तुम यदि मुक्ति चाहते हो तो विषयों को विष की तरह छोड़ देना चाहिये, क्षमा, नम्रता, दया, पवित्रता और सत्य का अमृत के समान पान करो। इसके अतिरिक्त तुम्हें अपने अन्दर दैवी सम्पत्ति का विकास करना चाहिये। दैवी सम्पत्ति वाले व्यक्ति अवश्य ही स्वर्गलोक के अधिकारी बन जाते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! कृपा करके दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति को पृथक्–पृथक् समझाइये।

उत्तर : हे पुत्र! दैवी सम्पत्ति के लक्षण गीता के सोलहवें अध्याय में जगदात्मा श्री कृष्ण ने अपने मुखारविन्द्र से इस प्रकार बतलाये हैं :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान–
योग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोध–
स्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं,
मार्दवं हीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः,
शौचमद्रोही नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवी–
मभिजातस्य भारत।।

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति का होना। दान, इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दूसरों की निन्दा चुगली न करना, द्रोह न करना तथा अहंकार न करना ये दैवी सम्पत्ति वाले मनुष्यों के लक्षण है। इसके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों के लक्षण इस प्रकार हैं :—

दम्भो दर्पोभिमानश्च,
क्रोधः पारुस्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य,
पाथ संपदमासुरीम्।।

अर्थात् पाखण्ड, दर्पं, अभिमान, क्रोध, क्रूरता और अज्ञान ये लक्षण आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त हुए व्यक्तियों के हैं।

इसके साथ ही अगले श्लोक में आनन्दकन्द भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि दैवी सम्पति ही मोक्ष का कारण है और आसुरी सम्पत्ति मनुष्य को बन्धन में डाले रखती है। यथा—

''दैवी सम्पद्धिमोक्षाय,
निबन्धाय आसुरी मता।''

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो ठीक है कि दैवी सम्पत्ति मुक्ति का कारण है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण है। मैंने दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के लक्षण भी सुन लिये हैं, किन्तु अब मुझे कृपा पूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे मन से आसुरी भाव निकल कर दैवी सम्पत्ति का उदय हो जाये और मेरी बुद्धि स्थिर हो जाये।

उत्तर : हे वत्स! योग ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य शनैः–शनैः भूमिकाओं में विजय प्राप्त करता हुआ अपने उच्चतम लक्ष्य निर्बीज समाधि अर्थात् निस्त्रैगुण्यता को प्राप्त हो जाया करता है। ये जितने भी दैवी आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं, यह सब का सब त्रिगुण विस्तार है।

हे बच्चे! तुम योग के उच्चतम अधिकारी जान पड़ते हो। इसलिये तुम्हें निस्त्रैगुण्यता की ओर ही बढ़ना चाहिए। क्योंकि जब तक साधक त्रिगुण स्थिति में रहता है तब तक यह त्रिगुणात्मिका माया कभी न कभी उस पर अपना प्रभाव डाल ही देती है और तुम्हें निस्त्रैगुण्यता प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास करना चाहिये। योगाभ्यास करने के लिये तप की

बहुत बड़ी आवश्यकता है। भगवान व्यासदेव ने अपने भाष्य में बिल्कुल स्पष्ट कहा है :—

"नातपस्विनो योगः सिध्यति।"

अर्थात् जो व्यक्ति तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो ठीक है कि तप के बिना योगसिद्ध नहीं होता किन्तु तप करने के लिये मुझे क्या-क्या आचरण करना चाहिए?

उत्तर : प्रिय वत्स! श्री मद्भगवद् गीता में आननद कन्द श्री कृष्णचन्द्र ने तीन प्रकार के तप बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं :-

(१) शारीरिक तप

देव द्विज गुरु प्राज्ञ,

पूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च,

शारीरं तप उच्यते।।

देवता, ब्राह्मण, देरुदेव तथा विद्वान व्यक्ति का पूजन करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का आचरण शारीरिक तप कहलाता है।

(2) वाङ्मय तप

अनुद्धेगकदं वाक्य सत्यं,

प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव,

वाङ्मयं तप उच्यते।।

अनुद्धेगकर, सत्य, प्रिय और हितकारी वाणी का प्रयोग करना तथा स्वाध्याय परायण रहना वाङ्मय तप कहलाता है।

(३) मानस तप

मनः प्रसादः सौम्यत्वं,

मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो,

मानस उच्यते।।

मन की प्रसन्नता, सौभ्यता, मौन, आत्म निग्रह और अन्त:करण की शुदिध का होना मानस तप कहलाता है?

अन्त:कल्याण कामी व्यक्ति को चाहिये कि वह उपरोक्त प्रकार से तपाचरण करता हुआ योगारूढ़ होने का प्रयास करता रहें। यही मनुष्य जीवन का चरत्र पुरुषार्थ है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव! मैंने यह सुना है कि जीवात्मा जिस कर्माशय का भोग करता है वह कर्माशय क्लेशमूलक हुआ करता है। यदि जीवात्मा क्लेशों से मुक्त हो जाय तो कर्माशय बनेगा ही नहीं, तो वह जन्म और मरण के चक्र से बच जायेगा। इसलिए कृपा करके मुझे समझाइये कि वे क्लेश क्या-क्या हैं? जिनके कारण प्राणी जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

उत्तर : हे वत्स! यह बात तो साधारण सी है और एक योगाभ्यासी थोड़ा-सा भी ख्याल करके चले, तो वह असंग रह सकता है एवं अविद्या-जनित क्लेशों से दूर रह सकता है। साधारण-सा विचार करने से बिना ही किसी तीव्रतम तपश्चर्या के मनुष्य जीवन-मुक्त की दशा में आ सकता है। उन क्लेशों का वर्णन भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योग-दर्शन के साधनपादान्तर्गत तीसरे सूत्र में इस प्रकार वर्णन किया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।3

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश माने जाते हैं, इन्हीं को पञ्च-विपर्यय भी कहते हैं। यह बढ़ते हुए पाँचों क्लेश गुणाधिकार को दृढ़ कर देते हैं, परिणाम को रोक देते हैं, कार्य-कारण स्रोत को बढ़ा देते हैं और एक-दूसरे के सहायक बन करके कर्म-विपाक को जन्म देते रहते हैं। ये पाँचों क्लेश चार भागों में हमेशा बँटे रहते हैं- प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्लेशों के आपने ये चार स्वरूप बतलाये हैं- प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। कृपा करके आप मुझे यह समझाइये कि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार किसको कहते हैं और इनकी मूल जननी क्या है?

उत्तर : हे वत्स! तुम्हारा प्रश्न बहुत ठीक है। अभी तो मैंने तुम्हें क्लेशों का स्वरूप ही यथार्थ में नहीं समझाया है, वह मैं तुम्हें आगे चल करके समझा दूँगा। तुमने जो क्लेशों की सूक्ष्म स्थिति प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूपा है, वह पूछी है। इसका उत्तर भगवान पतञ्जलिदेव ही अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से लिखते हैं, सो तुम उन्हीं के शब्दों में एवं श्री व्यासदेव जी के भाष्य में उत्तर सुनो-

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।4

अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप क्लेशों की जो स्थिति है, उनकी मूल जननी अविद्या है, उनमें से जो क्लेश चित्त में बीज भाव से प्रतिष्ठित रहते हैं और कालान्तर में अपने संयोग को पा करके प्रकट हो जाया करते हैं। कदाचित् कोई योगी जिसने पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार कर लिया है और अपने आत्म-साक्षात्कार से क्लेश बीजों को जला दिया है, यह दग्ध बीज-भाव की स्थिति किसी ज्ञानवान् पूर्ण योगी को ही हुआ करती है, क्योंकि क्लेशों के रहते हुए भी क्लेश-बीजों को दहन कर देने से विषय के सम्मुख आ जाने पर भी यह दग्ध बीजभाव वाले क्लेश अंकुरित नहीं होते, यही क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था है।

दूसरी स्थिति क्लेशों का तन्वीकरण

प्रतिकूल भावना से दबाये हुए क्लेश अपने आप ही तनु ही तनु हो जाते हैं। जैसे राग काल में क्रोध दिखलाई नहीं देता, वहाँ क्रोध का न दिखलाई देना, क्रोध का अपने आप ही तनुत्व है। इसी प्रकार क्रोध काल में राग का अदर्शन होता है, जहाँ पर राग लब्ध-वृत्ति होता है, वहाँ पर क्रोधादि का तनुत्व स्वाभाविक है, जहाँ पर रागादि लब्धा-वृत्ति होते हैं, वह अन्यत्र भविष्यत्-वृत्ति रहा करते हैं। जो क्लेश भोगारूढ़ होता है वह क्लेश उदार कहलाता है और जो प्रतिपक्ष भावना से खत्म जैसा हो जाया करता है, वह क्लेश विच्छिन्न कहलाया करता है। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति के हाथ पर बर्फ की सिल्ली रख दी जाय और बाद में उसको अग्नि का स्पर्श कराया जाय, तो वह अग्नि का स्पर्श उनकी अनुभूति का विषय नहीं रहता, यही उसकी विच्छिन्न स्थित है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया, अब मैं उन्हीं पांचों क्लेशों के यथार्थ स्वरूप को जानना चाहता हूँ। वस्तुतः वे पाँच क्लेश हैं क्या? इसका मुझे पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। पहले-पहले मैं अविद्या नाम के क्लेश के रूप को जानना चाहता हूँ। अविद्या का स्वरूप

क्या है और वह कितने प्रकार की होती है, कृपा कर मुझे समझा दीजिये।

उत्तर : हे वत्स! सुनो, तुम्हें श्री पतञ्जलिदेव जी के शब्दों में बतलाते हैं —

अनित्याऽशुचिदुःखानाऽत्मसु नित्यशुचिसुखाऽत्मख्या तिरविद्या 5/2

अर्थात् अनित्य में नित्यानुभूति, अपवित्र में पवित्रानुभूति, दुःखों में सुखानुभूति एवं अनात्म वस्तुओं में आत्मानुभूति अविद्या कहलाती है। जैसे मनुष्य अपने मन में सोचता रहता है कि यह पृथ्वी सदा रहेगी, चन्द्र-तारे और आकाश सदा रहेंगे, हमारे शरीर कायम रहेंगे। घर, मकान, बंगले सब अपने ही रहेंगे वस्तुतः इनमें कोई भी वस्तु रहने वाला नहीं हैं किन्तु मनुष्य के मन में यह बना रहता है कि यह सब रहेंगे ही रहेंगे। इसी का नाम है अनित्य को नित्य समझना।

अपवित्र को पवित्र समझना

जैसे हमारा यह शरीर जिस समय माँ के गर्भाशय में था, वहां मलमूत्र आदि से घिरा हुआ था ही, तब अपवित्र था। उत्पत्ति काल में रज-वीर्य से ही इसकी पैदायश है, तब यह गन्दा था ही, जिस समय माँ के पेट से बाहर आया उस समय जेरादि से लिपटा हुआ था ही, तब गन्दा था और अब मलमूत्र, रक्त, मांस-मज्जा, कफादि से घिरा रहने के कारण हमेशा अपवित्र है, काया बहुत पवित्र है, उससे लिपटता है चिपटता है और प्यार करता है। इसी का अर्थ है— अपवित्र के अन्दर पवित्रानुभूति। तीसरा क्लेश अविद्या है-

दुःखों में सुख की अनुभूति

मनुष्य संसार में जन्म ले करके अपने जीवन में दुःख ही दुःख को देखता है वस्तुतः तो वह कभी भी सुखी नहीं हो पाता। ज्ञानवान व्यक्ति के लिए तो परिणाम, ताप, संस्कार, दुःख एवं गुणवृत्तिविरोधादि के भेद से विवेकी पुरुष को तो सदा-सर्वदा दुःख ही दुःख है। मनुष्य भोग भोगता है- रोगी हो जाता है- भोगों में रोग का भय रहता ही है, भोग काल में वह सुख स्पर्श सुखदायक दिखलाई देता था किन्तु परिणाम में वह दुःख ही दुःख दिखलाई देता है। कोई मनुष्य किसी को कटु वचन कहता है मन में परिताप बना रहता है एवं इसी प्रकार मन में किसी प्रकार के भय, घृणा आदि के संस्कार बने रहते हैं। इनसे यह दुःख भोगता रहता है। यह उसके मानस संस्कारों के दुःख हैं, शरीर में कोई आधि व्याधि पैदा हो जाती है वह दुःख है ही है। इसके अतिरिक्त गुण वृत्ति विरोधादि का दुःख तो मनुष्य को पूरी जिन्दगी तक सताता ही रहता है। किसी के गुण-कर्म-स्वभाव मिलते ही नहीं, इसका ही नाम गुण वृत्ति विरोध का दुःख है। किन्तु मनुष्य अविद्याग्रसित होने के कारण आने आप को, इन घोर दुःखों का भोगते हुए भी अतिशय को सुखी समझता है इसी का नाम है दुःखों में सुख की अनुभूति।

इसी प्रकार से हमारा आत्मा नित्य चेतन है जिसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्ट शब्दों के द्वारा कह दिया है कि यह आत्मा अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य एवं अविकारी है। किन्तु फिर भी गुण प्रभाव से विकारी जैसा दिखाई देता रहता है- पढ़िये गीता के श्लोक-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु-
रचलोऽयं सनातनः।।

24/2

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय-
मविकायेऽियमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं-
नानुशोचितुमर्हसि।।

25/2

अर्थात आत्मा का स्वरूप अच्छेद्य अदाह्य, अशोष्य नित्य सर्वगत एवं अविकारी है किन्तु हम अपनी विकृत बुद्धि से भोगारूढ़ गुणों के स्वरूप को ही अपना आत्मा मान लेते हैं। जिस समय हम संसार में किसी आकृति विशेष को प्यार करते हैं उसको हम कहते हैं यह हमारा आत्मा है किन्तु वस्तुतः विचार कर देखा जाय प्रकाश क्रिया स्थिति शील वह एक गुण समुच्चय ही है, आत्मा नहीं। यही अविद्या के चार स्वरूप हैं, जो पाँच भागों में बँटे हुए हैं। उन्हीं को पञ्चपर्वा अविद्या के नाम से कहा गया है। यदि साधक अविद्या के ही स्वरूप को भली प्रकार से समझ ले और इससे भी बच जाये तो वह क्लेशारूढ़ न हो सके।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने अविद्या नाम के क्लेश का वर्णन तो कर दिया किन्तु शेष जो चार क्लेश और हैं कृपा करके उनके भी स्वरूप को और समझा दीजिए ताकि मैं आपकी कृपा पूर्वक क्लेश मूलक कर्माशय के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ। जब आप कृपा करके मुझे अस्मिता आदि क्लेशों का स्वरूप समझाइये।

उत्तर : हे वत्स सुनो, भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के साधन पाद के छटवें सूत्र में अस्मिता का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्यतेवास्मिता।।6।।

अर्थात् आत्मा दृक्शक्ति है और बुद्धि दर्शन शक्ति है। इन दोनों का एक रूप होने से अस्मिता नाम का क्लेश बन जाता है।

इसी अस्मिता क्लेश को जड़ और चेतन की गांठ कहा जाता है इसको इस प्रकार समण लेना चाहिए जैसे आत्मा एक निर्मल ज्योति है और बुद्धि जड़ वस्तु है। आत्मा के तेज का निर्मल प्रकाश बुद्धि पर पड़ा, इसके फलस्वरूप बुद्धि जड़ की अपेक्षा चेतन हो पड़ी, अपनी चेतना को पाकर के बुद्धि ने आत का प्रत्युपकार किया जिसके फलस्वरूप वह आत्मा को दु:ख-सुख आदि का अनुभव लराने लगी। इसी से आत्मा को बुद्धि बोधात्मा की उपाधि मिली, अर्थात् बौद्धेय ज्ञान को पाकर के ही आत्मा अपने आप को सुखी-दु:खी महसूस करने लगा। इसी का नाम जड़ और चेतन की गांठ है जो आत्मा के केवली भाव हो जाने पर ही टूटती है तभी सब संशय भी नाश हो पाते हैं, एवं क्लेश बन्धनों का समूलोन्मूलन हो जाता है इसी के लिए उपनिषदों में कहा गया है—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि: छिद्यन्ते सर्वं संशय:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे।।

अर्थात्

तस्मिन् परावरे दृष्ट अस्य हृदय ग्रन्थि: भिद्यते पुनश्च सर्वं संशया: छिद्यन्ते, कर्मबन्धनानि क्षीयन्ते।

अर्थात् उस परावर परमात्मा के दर्शन कर लेने के बाद हृदय ग्रन्थि अपने आप ही खुल जाती है सभी संशय नष्ट हो जाते हैं। कर्म बन्धन क्षय हो जाते हैं। यह सब कार्य अस्मिता नामक क्लेश के नष्ट हो जाने पर हो जाया करता है। इस प्रकार से अस्मिता नाम का क्लेश ही अविद्या आदि सभी क्लेशों का मूल है। इसलिए तुम इन सब बातों को समझ करके अपने आप को क्लेश निवृत्ति की ओर बढ़ाओ। जिससे कल्याण का स्रोत खुले एवं मुक्ति पद को पा जाओ।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परमपूज्य गुरुदेव! आपने कल के सत्संग में स्वाध्याय की विधि और उसका फल बताते हुए कहा था मनुष्य मन्त्रों का जाप तथा योगपरक ग्रन्थों का अध्ययन मनन करन से योगारूढ़ हो जाता है और मोक्षद्वार तक पहुँच जाता है। कृपा करके मुझे बतालाइये कि योगपरक ग्रन्थ कौन-कौन से हैं और उनके अध्ययन से मनुष्य किस प्रकार योग में प्रवेश पा जाता है। ताकि मैं उनका अध्ययन करके लाभ उठा सकूँ।

उत्तर : प्रिय सौम्य! वेद, पुराण, उपनिषद, गीता, रामायण, योगदर्शन, वेदान्तदर्शन आदि सभी आध्यात्म विषयक ग्रन्थ योगपरक ग्रन्थ कहलाते हैं। इनके अध्ययन से तथा तदनुसार आचरण करने से मनुष्य अवश्य ही योगारूढ़ हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। शास्त्रों के अध्ययन से मनुष्य की बुद्धि स्वत: ही पवित्र हो जाती है। उसके अन्दर सतोगुण का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है और राजस तामस भाव क्षीण हो जाते हैं। अध्ययन के प्रभाव से साधक का चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और यह एकाग्रावस्था ही योग की प्रारम्भिक भूमिका है। अर्थात् यहीं से योग आरम्भ होता है।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! रामायण को योगपरक ग्रन्थ क्यों माना गया है? क्या उसमें भी योग का वर्णन है?

उत्तर : प्रिय वत्स! रामायण एक उत्तम योगपरक ग्रन्थ है। यह समस्त वेदों, उपनिषदों और पुराणों का सार है। इसका मुख्य विषय कर्मप्रधान भक्तियोग है। अत: इसमें कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग का बड़े ही सरल एवं सरस ढंग से वर्णन किया गया है। श्री रामायण में देह की अनित्यता, मनुष्य शरीर की दुर्लभता, जीव, माया और ईश्वर का स्वरूप, मानस रोग तथा उनसे मुक्ति का उपाय एवं क्रियायोग की साधना विधि का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें जहाँ एक ओर योग-सिद्धान्तों को समझाया गया है वहाँ दूसरी ओर परम योगिनी जगदम्बा सीता, भक्त हनुमान, महर्षि भारद्वाज आदि सिद्ध योगियों के योग-ऐश्वर्य को प्रदर्शित किया गया है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! तुलसी रामायण में मनुष्य जन्म की दुर्लभता तथा उसकी सार्थकता का उपाय और जीव, माया तथा ईश्वर का स्वरूप जिस प्रकार बताया गया है क्या आप उसे मुझे समझाने की कृपा करेंगे?

उत्तर : हाँ-हाँ सौम्य! सुनो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस गूढ़ विषय को सरल भाषा में जिस प्रकार वर्णित किया है उसे मैं तुम्हें ज्यों का त्यों बता रहा हूँ। इसमें सबसे पहले मनुष्य जन्म की दुर्लभता को गोस्वामी जी के शब्दों में सुनो-

बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोक्ष कर मूला।

तथा-

नरतनु भव वारिधि कहँ बेरो।
सन्मुख मरूत अनुग्रह मेरो।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाई।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आत्महा गति जाइ।।

जीवात्मा का स्वरूप

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी।।
सो मायावश भयऊ गोसांई।
बन्ध्यो कीट मरकट की नाई।।

माया का स्वरूप

मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है।
जैसे-

मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहि वश कीन्हे जीव निकाया।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहुँ भाई।।

ईश्वर जीव और माया में अन्तर

मायावश्य जीव अभिमानी।

ईशवश्य माया गुणरवानी।
परवश जीव स्ववश भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।

प्रश्न : परम आराध्य श्री गुरुदेव! मानस रोग किसे कहते हैं और उनसे मुक्ति का उपाय क्या है?

उत्तर : प्रिय वत्स! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छः दोषों को मानस रोग कहा गया है। इन दोषों के वशीभूत हुआ जीव संसार चक्र में बंधा रहता है। जब मनुष्य सद्गुरु रुपी वैद्य की शरण में जाकर अत्यन्त श्रद्धा से योग साधना में प्रवृत्त होता है तभी वह इन रोगों से मुक्त हो पाता है अन्यथा नहीं। जैसे-

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्हते दुःख पावहिं सब लोगा।।
मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहिते पुनि उपजहिं बहु शूला।।
राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जो यहि भांति बनै संयोगा।।
सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा।
संयम ग्रहण विषय कर आसा।
रघुपति भक्ति सजीवन भूरी।
अनोपान श्रद्धा अति भूरी।।
एहि विधि भले कुरोग नसाहीं।
नाहित जतन कोटि नहिं जाही।।

प्रश्न : हे वत्स! श्री रामचरितमानस में स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का स्थान-स्थान पर बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। नाम जप (स्वाध्याय) को योगसिद्धि का एक सरलतम तथा श्रेष्ठतम साधन बताया गया है। यथा :—

जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।।
साधुक नाम जपहिं लय लाये।
होहि सिद्ध अणिमादिक पाये।।
नाम जीह जपि जागहि जोगी।
विरति विरंचि प्रपञ्च वियोगी।।
ब्रह्मसुखहि अनुभवहि अनूपा।
अकथ अनायम नाम न रूपा।।
जपहिं नाम जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहि सुखारी।।

अर्थात् जो व्यक्ति गूढ़ रहस्यों को जानता चाहते हैं वे नाम (मन्त्र) को जिह्वा से जपकर जान सकते हैं। जो साधक मन लगाकर जप करते हैं वे अणिमादि सकल योगसिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं।

योगी जिह्वा से निरन्तर प्रभु का नाम जपकर और संसार से पूर्ण विरक्त होकर मोहरूपी रात्रि में जागते हैं। जिससे वे उस ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हैं जो कि उपमारहित, अकथनीय एवं रोगरहित है तथा जिसका नाम और रूप ही नहीं है।

साँसारिक व्यक्ति जो कष्टों के निवारण के लिए ईश्वर का नाम जपते हैं तो उससे उनके सारे संकट मिट जाते हैं और वे हर प्रकार से सुखी हो जाते हैं।

नामजप की महिमा का वर्णन करते हुए अन्त में यहाँ तक कह दिया है कि—

कहों कहाँ लगि नाम बढ़ाई।
राम न सकहिं नाम गुण गाई।।

तथा-

जपत पवनसुत पावन नाम्।
अपने वश करि राखिय रामू।।

यह रहा स्वाध्याय। अब ईश्वर प्रणिधान की महिमा सुनो। रामचरितमानस में भक्तियोग के अन्तर्गत ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप एवं उसकी महिमा का मुक्तकण्ठ से गान किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ईश्वर प्रणिधान को समस्त सुखों की खान, योग का मूल और मोक्षका दरवाजा बताया है। ईश्वर प्रणिधान से ही मनुष्य ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करता है। भगवान सदा उसके वश में रहते हैं और उसे सकल योगसिद्धियों से विभूषित कर देते हैं। भक्त हनुमान का पावन चरित्र एवं उनकी दिव्य योग लीलायें इस बात के मूर्तिमान उदाहरण हैं। महामुनि काकभुशुण्डि, गृद्धराज जटायु एवं ज्ञानी सुतीक्ष्ण ईश्वर प्रणिधान से ही परमपद को प्राप्त हुए।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परम पूज्य गुरुदेव! क्रियायोग किसे कहते हैं और उससे समाधि-लाभ कैसे हो सकता है? कृपया इस विषय का प्रकाश डालिये।

उत्तर : हे सौम्य! क्रियायोग महर्षि पतञ्जलिदेव द्वारा निर्दिष्ट अष्टाङ्गयोग का ही एक अङ्ग है। भगवान् पतञ्जलिदेव ने योग के आठ अङ्गों में सर्वप्रथम पांच यमों और उसके बाद पांच नियमों का वर्णन किया है। उन्हीं नियमों के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का भी निर्देश किया गया है। इन तीन नियमों का दृढ़ता से पालन करना ही 'क्रियायोग की साधना' कहलाती है। योग दर्शन के साधन-पाद के प्रथम सूत्र में क्रियायोग की परिभाषा इसी प्रकार की गई है-

तप: स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग:।

अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान 'क्रियायोग' कहलाता है।

क्रियायोग का ही दूसरा नाम साधना-योग है। वस्तुत: क्रियायोग समाधि प्राप्ति का एक सरल और श्रेष्ठ साधन है। यह मृदु और मध्य संवेग सम्पन्न योग के मन्दाधिकारियों के लिए योगारूढ़ होने के मन्दाधिकारियों के लिए योगारूढ़ होने का एकमात्र उपाय है। क्रियायोग की साधना से क्लेशों का तन्वीकरण हो जाता है और समाधि की भावना दृढ़ होती जाती है। जैसे-

समाधिभावनार्थ: क्लेशतनुकरणार्थश्च।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! क्लेश किसे कहते हैं, उनके तन्वीकरण से क्या अभिप्राय है तथा ऐसा करने से समाधि कैसे प्राप्त हुआ करती है? कृपया इस विषय को स्पष्ट करके मुझ दास पर अनुग्रह कीजिए।

उत्तर : प्रिय वत्स! क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये क्लेश ही कर्माशय के जन्मदाता हैं और जीवात्मा को जन्म-मरण रूप संसार चक्र में डाले रखते हैं। अविद्या सभी क्लेशों की जड़ है। क्रियायोग की साधना द्वारा उपरोक्त क्लेश हल्के पड़ जाते हैं, कर्माशय क्षीण होता जाता है और समाधि प्रज्ञा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो ठीक है कि क्रियायोग के अभ्यास से साधक योगारूढ़ हो जाता है और मोक्ष द्वार तक पहुँच जाता है। अब मेरी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पुन: तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की विधि पृथक-पृथक समझाने की कृपा कीजिए। ताकि मैं तदनुसार आचरण करके परम श्रेय भाजन बन सकूँ।

उत्तर : हे वत्स! तुम यथार्थत: योग के जिज्ञासु हो और परमानुग्रह ही आकांक्षा से इस प्रकार के गूढ़ प्रश्न किया करते हो। अत: सुनो। मैं इस विषय को सविस्तार समझाता हूँ। क्रियायोग में सर्व प्रथम तप की गणना की गई है और तप की परिभाषा करते हुए भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं—

द्वन्द्वसहनं तप:।

अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान, सुख दु:ख आदि सभी द्वन्द्वों को सहन करना तप कहलाता है। अखिल लोक नायक आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में शारीरिक, मानसिक और वाङ्मय इन तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है जिसे मैं तुम्हें पहले समझा ही चुका हूँ। तप का फल योगदर्शन में इस प्रकार बतलाया गया है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:।

अर्थात् तपके द्वारा अविद्या जनित अशुद्धि का नाम हो जाने पर साधक को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! अब स्वाध्याय की विधि और उसका फल बतलाने की कृपा कीजिये।

उत्तर : हाँ-हाँ सौम्य! मैं वही बात बतलाने जा रहा हूँ। सुनो! मन्त्रों का जाप करना तथा गीता, रामायण, उपनिषद आदि मोक्ष दाता शास्त्रों का अध्ययन और मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय करने से साधक का अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, मन सर्वथा शान्त एकाग्र एवं प्रफुल्लित रहता है और चित्त-वृत्ति अन्तर्मुखी बन जाती है, जिससे साधक को स्वत: ही समाधि प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति को सिद्धों का अनुग्रह प्राप्त होता है। सभी देवी-देवता, ऋषि-मुनि एवं सिद्ध पुरुष स्वाध्यायशील व्यक्ति को

दर्शन देते रहते हैं और उसकी हर प्रकार से सहायता किया करते हैं। योगदर्शन में स्वाध्याय का यही फल बताया गया है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग:।

(१) मन्त्र के अधिष्ठता देवता साधक को अपनी शक्तियों से विभूषित कर दिया करते हैं।

(२) मन्त्र के प्रदाता गुरुदेव जप कर्त्ता को अपी शक्ति प्रदान किया करते हैं।

(३) चूँकि मन्त्र ईश्वर का वाचक होता है। उस मन्त्र के माध्यम से जपकर्ता का ईश्वर से सम्पर्क बना रहता है। अत: ईश्वर साधक पर अनुग्रह किया करते हैं और उसे योगिक ऐश्वर्य प्रदान कर देते हैं।

योग का स्वाध्याय से अटूट सम्बन्ध है। बिना स्वाध्याय के योग सिद्ध नहीं हुआ करता। इस सम्बन्ध में योगाचार्यों का यह स्पष्ट आदेश है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत्
योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या
परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् साधक को चाहिए कि वह मन्त्रजप की सहायता से ध्यानाभ्यास करे और ध्यान करते-करते थक जाने पर पुन: जप शुरू कर दे। इस प्रकार जप के बाद ध्यान और ध्यान के बाद जप ऐसा अनवरत करते रहने से उसे परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है और फिर-

भिद्यते हृदयग्रन्थि:
छिद्यन्ते सर्व संशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस परात्पर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर साधक की हृदयग्रन्थि खुल जाती है, उसके सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वह सर्वथा मुक्त हो जाता है और उस परम प्रभु में ही लीन हो जाता है।

अत: स्वाध्याय का अधिकाधिक अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न : परम पूज्य गुरुदेव! आपने क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय की सरल साधना विधि एवं उसका उत्कृष्ट परिणाम बताकर मुझ अबोध बालक पर महान उपकार किया है। वस्तुत: स्वाध्याय की महिमा आपके श्री मुख से सुनकर मेरे हृदय में अपूर्व उत्साह एवं प्रेरणा का संचार हो रहा है। प्रभो! मेरे मार्ग-दर्शन के लिए ईश्वर प्रणिधान के स्वरूप का भी वर्णन करने की कृपा कीजिए।

उत्तर : मेरे भोले बच्चे! भगवान पतंजलिदेव ने जहाँ समाधि प्राप्ति के अन्य अनेकों साधन बतलाये हैं, वहाँ ''ईश्वर प्रणिधानाद्वन्द्व'' कहकर ईश्वर प्रणिधान को समाधि का एक सरलतम साधन बतलाया है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है— सर्वतो भावेन ईश्वर की शरण में जाना। अर्थात् अपना शरीर, धन, सम्पत्ति, मन, बुद्धि तथा अंहकार को पूरी तरह ईश्वर के अर्पण करके हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना एवं निष्काम भाव से कर्त्तव्य का पालन करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर प्रणिधान से साधक ईश्वर का अनुग्रह-भाजन बन जाता है। श्री व्यासदेव जी ने उपरोक्त सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट कहा है—

प्रणिधानद्भक्ति विशेषादावार्जित ईश्वरस्तमनु-गृहणात्यभिध्यान मात्रेय इदमस्याभिमतस्तु।

अर्थात् भक्ति विशेष से प्रसन्न होकर ईश्वर उस साधक के लिए माया का आवरण हटा देता है और उसके सम्मुख प्रकट होकर उसकी मनोकामना पूर्ण कर दिया करता है।

स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये दोनों क्रियायें साथ-साथ चलनी चाहिए। क्योंकि बिना ईश्वर प्रणिधान के स्वाध्याय अधूरा है और स्वाध्याय के बिना ईश्वर प्रणिधान होना भी सम्भव नहीं है।

भगवान पतंजलिदेव ने ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप समझाते हुए इन दो सूत्रों की रचना की :—

तस्य वाचक: प्रणव:।
तज्जपस्तदर्थ भावनम्।

अर्थात् उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव (ॐ) है। अत: साधक उस प्रणव का जप करे और उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का ध्यान करें। ऐसा करने से वह ईश्वरानुग्रह भाजन बन जाता है।

ईश्वर प्रणिधान साधक को बहुत शीघ्र ही समाधि की उच्चतम स्थिति में आरूढ़ कर देता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। गोस्वामी तुलसीदास, भक्त नरसी, मीरा बाई आदि प्रभु भक्तों के पुनीत जीवन-चरित्र इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। पवन पुत्र श्री हनमुमान जी ईश्वर प्रणिधान के बल पर ही सकल योगसिद्धियों के स्वामी बन गये।

ईश्वर प्रणिधान से साधक का जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा कर्माशय दग्ध हो जाता है और वह सर्वथा निष्पाप होकर परमश्रेय का भागी बन जाता है। रामचरित मानस से भगवान श्री राम इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं। यथा—

सन्मुख होहिं जीव मोहि जब ही।
कोटि जन्म अध नाशहिं तबहीं।।

रहिमन मनहिं लगाइ कै, देखि लेहु किन कोय।
नर को वश करिवौ कहा, नारायण बस होय।।
— रहीम

या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहि कोय।
ज्यों-ज्यों बूढ़े श्यमा रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।।
— बिहारी

जिन जैसा सत्संग किया, वैसा ही फल लीन।
कदली सीप भुजंग मुख, बूँद एक गुण तीन।।

आजकल मित्र बनाने का किशोरावस्था में बहुत शौक बढ़ा है। गन्दे उपन्यास कहानियाँ, नवयुवक के मन को त्रास, भ्रम, कुण्ठा, चिन्ता हिंसा भावनसे तथा अनुकृति-परायण बना रहे हैं। उसके पास अपनी गाँठ की न बुद्धि है न विवेक। उसी तरह दोस्त अधिकाँश उसे बुरी आदतों का गुलाम बनाकर उससे माँ-बाप की आशाओं पर सदा के लिए पानी फेरते हैं। जो संगदोष से बच जांय वे भाग्यशाली हैं और जीवन में कुछ बन पाते हैं। क्लब, सिनेमा, जुआघर और पार्टियाँ सब संगदोष की जन्मस्थली हैं। अच्छा साहित्य और अच्छा संग आज के नौजवान को उसी प्रकार रूचिकर नहीं लगता जिस प्रकार ज्वर में मिठाई मीठी नहीं लगती। संगदोष ऐसा राक्षस है जो कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ता। जीवन के हर आयाम पर संग से सावधान रहने की आवश्यकता है। हर बुराई अच्छाई का मुखौटा लगाकर सामने आती है अत: यह पहचानना बड़ा मुश्किल है कि हमारा भला किससे होगा। मार्कण्डेय पुराण में एक प्रश्न किया गया है कि अपना भला चाहने वाले व्यक्ति को क्या करना चाहिए? उसका संक्षेप में उत्तर दिया गया है कि संग सबसे अधिक खतरनाक बीमारी है अत: शरीर, मन, बुद्धि, चित्त तथा आत्मा सभी स्तरों पर इससे सावधान रहना है। जैसे जल नीचे भूमि पर आते ही गन्दा हो जाता है वैसे ही 'सत्संगजा दोष गुणा: भवन्ति' संग से ही दोष गुणों में बदल जाते हैं और गुण दोषों में बदल जाते हैं। औषधि निर्माण करने वाले पारे का शोधन कर उसके संग से अनेक धातुओं को रसायन बनाकर जरा मृत्यु को दूर करने की शक्ति वाला बन देते हैं। आध्यात्मिक मार्ग के पथिक को संग-दोष सबसे अधिक बाधक है। अत: कहा है-

तस्मात्संग: सदा त्याज्य:
सर्व न्यक्तुं न शक्यते।
महद्भि: सह कर्त्तव्य:
सतां संगो हि भेषजम्।।

सभी का साथ यदि न छोड़ा जा सके तो महापुरुषों का साथ करना चाहिए क्योंकि महापुरुषों का संग मन को औषधि की भाँति नीरोग करता है। महापुरुषों की कृपा से ही प्रभु दर्शन की पात्रता प्राप्त होती है और जीव कृतार्थ हो पाता है।

बिन सत्संग न हरि भजन,
तेहि बिन मोह न भाग।
मोह गये बिन राम पद,
होय न दृढ़ अनुराग।।

जीवन को सफल बनाने के लिए यमनियमों के द्वारा अपनी कामनाओं को शुद्ध करना पड़ेगा तभी चित्त में एकाग्रता होगी और सच्चा प्रेम जन्म लेगा।

साधना के विभिन्न स्तरों पर संग-दोष और बचने के उपाय

श्रुति कहती है- 'असंगोऽयं पुरुष:' यह पुरुष संगदोष से रहित केवल, शुद्ध बुद्ध मुक्त चेतन है किन्तु माया (प्रकृति) का संग करने से उसके अन्दर परिच्छन्नता (सीमित दायरा) आ गयी और वह अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष अभिनिवेश आदि क्लेशों से दुखित होकर पुनरपि मरणं पुनरपि जननम्' के संसार चक्र में संस्कारवश नाना योनियों में घूमता रहता है। जड़ प्रकृति का संग होने से मुक्त चेतन पुरुष अपने को बद्ध और जड़ समझने लगता है। संगदोष का श्रीगणेश अनादि है। मनुष्य योनि में सात्विक गुणों से युक्त परिवार में जन्म लेने पर उसे एक अक्सर मिलता है आत्म स्वरूप को देखने का। किन्तु वह जीवन पर गोरख धन्धों पर फँसा रहता है और अन्त समय बिना कुछ कमाई किये रोते बिलखते जाना पड़ता है। कोई-कोई जीव भाग्यशाली होता है जो अपने को जड़ प्रकृति से अलग करने का प्रयत्न कर पाता है। यदि निम्नलिखित दस चीजें उसके अनुकूल बन जायें तो उसकी साधना निर्विघ्न मंजिल तक पहुँच सकती है-

आगमोऽप: प्रजा देश:
काल: कर्म च जन्म च।
मन्त्रोऽन्नं तथा ध्यानं
दशैते गुण हेतव:।।
(श्रीमद्भागवत्)

अर्थात् व्यक्ति जिस प्रकार का शास्त्र या साहित्य पढ़ता है वैसे ही उसके मन की पकड़ बनती है तथा जल से प्राण-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। जिन व्यक्तियों के साथ रहता है। उनके विचार एवं कार्य उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार का स्थान होता है वहां के अच्छे या बुरे परमाणु मन को प्रभावित करते हैं। प्रात:काल सतोगुणी कर्मों की प्रवृत्ति स्वत: होती है और दिन में क्रियापरायण होने की इच्छा होती है, रात्रि को विश्राम की इच्छा, यह सब काल

के सत रज तम गुणों के आधिक्य के कारण होता हैं। व्यक्ति का पाप पुण्य का जैसा कर्म है उसका वैसा ही प्रभाव मन पर पड़ता है। जिस कुल जाति में जन्म लिया है उसकी परम्परा भी मनुष्य को प्रभावित करती है। मन में जैसा चिन्तन चलता है, मन्त्र जप करता है– शान्ति या उच्चाटन आदि जिस प्रकार का भी हो वह भी चित्त पर प्रभाव डालता है। जैसा अन्न खाता है वैसा ही व्यक्ति का मन बनता है तथा जिस देवता का ध्यान करता है 'तं तथा उपासते तदेव भवति' के नियमानुसार वैसा ही उसका चित्त बन जाता है।

सर्व प्रथम इन्द्रियों का विषयों का साथ संग होता है और मन उनका आदी बन जाता है। विषयों के अभाव में उनके प्रति आसक्ति विषयों में भी अधिक खतरनाक सिद्ध होती है क्योंकि मन की आसक्ति नाना प्रकार के मनोकायिक रोगों की जन्मदात्री बनती है। बल्लभाचार्य जी कहते हैं–

निहन्ति विषंमत्तारं विषया: स्मरणादपि।

अर्थात् विष तो खाने पर व्यक्ति को मारता है किन्तु विषय स्मरण करने मात्र को चित्त को चंचल बना देते हैं और गीता में वर्णित आत्मनाश की स्थिति तक व्यक्ति को ले जाते हैं—

ध्यायतो विषयां पुंस:
संगस्तेपूपजायते।
संगात्संजायते काम:
कामात्क्रोधोभिजायते।
क्रोधात्भवति समोह:
संमोसात्स्मृति विभ्रम:।
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति से कामना और कामना से उसके पूर्णन होने पर क्रोध तथा क्रोध से विवेक का नाश और आसक्त पदार्थ में पक्षपात बुद्धि, जिसके परिणामस्वरूप स्मृतिनाश हो जाता है। इस महाविनाश से बचने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने अनासक्ति का मार्ग बतलाया है–

असक्तं ह्याचरन कर्म परमाप्नोति पुरुष:।

एक अतिथि की तरह अनासक्त होकर ईश्वर समर्पण बुद्धि से सभी कार्य करते रहने पर पुरुष कैवलीभाव को प्राप्त हो जाता है। एक समय ऐसा आता है कि वह पर वैराग्य की अवस्था में पहुँच कर निर्विकार स्थिति में पहुँच जाता है। वहाँ दोष भी गुण में बदल जाते हैं या दोषों से वह असंयुक्त रहता है जैसा कि रहीम ने कहा है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।।

कर्म में तथा कर्मफल में आसक्ति होने से भी प्रकृति के गुणों के दायरे से साधक का निकलना कठिन हो जाता है। सात्विक कर्मों के द्वारा पाप कर्मों का क्षय करना चाहिए जैसे कांटे से कांटा निकाल कर दोनों कांटे फेंक देते हैं उसी प्रकार पाप पुण्य को दोनों कर्म छोड़कर दृष्टाभाव में साधक को स्थित होना है अत: सारे कर्म ईश्वर प्रणिधान द्वारा अपने सद्गुरु ईश्वर को समर्पित कर संग का परित्याग करना चाहिए।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्ग त्यक्त्वा करोति स:।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा।

(गीता ५/१०)

अर्थात् जो पुरुष सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पित कर आशक्ति मुक्त होकर कर्म करता है वह कमल के पत्ते पर जल की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

योग की विभिन्न भूमिकाओं में प्रवेश करने पर स्थूल भोगों की अपेक्षा सूक्ष्म भोगों के आकर्षण अधिक लुभावने होते हैं। उनके चक्कर में पड़कर योगी खाली हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'संग ते जती कुमन्त्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा।।' इस अर्द्धाली में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। जब धारण ध्यान समाधि रूप संयम साधक सिद्ध कर लेता है तो अपने संस्कारों का साक्षात्कार करता हुआ वह प्रकृति के गुणाधिकार की सीमा को लांघता हुआ निर्विकल्पक स्थिति की ओर अग्रसर होता है तभी पग–पग पर उसे विघ्नों का सामना करना पड़ता है। त्याग से बढकर त्याग का अभिमान अधिक अनर्थकारी होता है। ऋद्धियों सिद्धियों का लोभ सारे जीवन की तपस्या को क्षण में मिट्टी में मिला देता है। कबीर चेतावनी देते हैं–

मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर ओलिया, झीनी सबको खाय।।

चार प्रकार की भूमिकाओं पर पहुँचने वाले योगियों की संगदोष पतित कर सकता है।

१. प्रथम मात्र ज्योति अभ्यासी– जो संयम द्वारा पर चित्त ज्ञान करने का अभ्यास करने की सिद्धि का प्रकत्न कर रहे हैं। उनके चित्त को सबलचित्त आकर्षित कर सकता है और उनका सुन्दर भोगों का प्रलोभन देकर अपने वश में कर सकता है। २. मधुमती भूमिका पर आरूढ़ योगी ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त करता है। उसकी बुद्धि की शुद्धि को

देखकर स्वर्ग के इन्द्रादि देव तथा अप्सरायें उसके समीप आकर स्वर्ग भोग का निमन्त्रण देते हैं। ३. प्रज्ञाज्योति भूतेन्द्रियज भी अणिमादि ऐश्वर्य का स्वामी होता है वह सिद्धियों में ही आसक्त हो सकता है। ४. अतिक्रान्तभावनीय- पर वैराग्य सम्पन्न होने से वह संगदोष से अभिभूत नहीं होता वह जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँच चुका होता है और उसे सात प्रकार की प्रान्तभूमि नामक प्रज्ञा हो चुकी है। असंप्रज्ञात समाधि में पहुँचने से पहले ही यदि कृत कृयता मान ले तो लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता। इन सभी प्रकार से योग-साधकों को उद्‌बोधित करते हुए महर्षि पतंजलि योगसूत्र में कहते हैं-

स्थान्युपनिमंत्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।

अर्थात् जब देवतादि स्वर्ग के दिव्य भोगों का लोभ दिखाकर योगी को आदरपूर्वक प्रार्थना करे तो उनकी प्रार्थना न करै न अपने संयम के बल पर गर्व करे क्योंकि ऐसा करने पर जन्म-मरणरूप अनिष्ट की सम्भावना है। जब कभी ऐसा प्रसंग आये तो योगी इन्द्रिय विषयों में वैराग्य की भावना करे तथा निहंकार होकर जन्मने और मरने के दुःखों का पुनः पुनः चिन्तन करें।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।

(गीता १३/८)

स्त्री पुत्र घर धन आदि में आसक्ति न रखे। प्रिय तथा अप्रिय को प्राप्त करने पर एक जैसी स्थिति में रहे। तथा कामना को बिल्कुल स्थान न दे। सर्वशक्तिमान प्रभु के चरणों को सम्पूर्ण भाव से चिन्तन करे। किसी से बात चीत करने पर प्रभुचर्चा तथा सन्तों के चरित्रों का ही आनन्द ले। विषयी लोगों का चिन्तन और दोषदर्शन कभी न करें। एकांत में रहे तथा भीड़-भाड़ से दूर स्थान में मौन रहने का अभ्यास करें।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।

१३/६

मयि चानन्य योगेन भक्ति व्यभिचारिणी।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।

१३/१०

महर्षि व्यासदेव जी ने योगी को उपदेश किया है कि योगी प्रारब्धवश जब कभी संगदोष का शिकार होने लगे तो उसे बार-बार विचार करना चाहिए—

संगदोषान् भावयेद्— घोरेषु संसाराङ्गरेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथं चिदासादितः क्लेशतिमिर विनाशी योगप्रदीपः। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवाः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धा लोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया व्यञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीपस्य संसाराग्ने- यात्मानमिन्धनी कुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजन प्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्। संगमकृत्वास्मयमपि न कुर्याद्।

अर्थात् जब लोकेषणा तथा स्वर्ग भोगजन्य कामेषणा से योगी को यह सोचकर अपने को सम्भाल लेना चाहिए कि अंगारे की तरह जलाने वाले इस संसार में जन्ममरणरूपी अन्धकार में भ्रमण करने वाले मुझे सौभाग्य से योग का दीपक मिल गया है वह योग दीपक की विषयरूपी वायु विरोधी है। इस योग दीपक से वंचित होकर विषयों की मृगतृष्णा के चक्कर में पड़कर मैं पुनः जन्म-मरण की महान अग्नि में अपनी महान आत्मा को दग्ध क्यों करूँ। स्वप्न की भांति क्षणभंगुर तुच्छ पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य अप्सरादि (जैसे कुत्ता अपने वमन को खाता है वैसे ही मुझे छोड़े हुए विषयों में कुत्ते की तरह क्यों प्रवृत्त होना चाहिए।) ऐसा सोचकर नित्य अपनी स्वरूप स्थिति की मस्ती में मस्त रहे। अपने त्याग और अपनी उपलब्धि पर गर्व भी न करें क्योंकि गर्व अहंकार विषयों से भी भयंकर होता है। अहंकार करने से योगी आत्मा की भावना नहीं करेगा विषयों का ही प्रकारान्तर से चिन्तन करता रहेगा। तथा समाधि से मन मोड़ लेगा। एक बार यदि प्रमाद प्रवेश कर गया तो कठिनाई से निवृत्त होगा। मन के किसी कौने में समाधि उपरामता रूप छेद यदि एकबार हो गया तो प्रमाद अविद्यारूप क्लेशों को पुनः नवीन कर देगा और जन्म-मरण के चक्र में योगी को डाल देगा। इस प्रकार योग भ्रष्ट होकर पुनः संस्कारवश श्री सम्पन्न या योगियों के यहाँ जन्म लेना पड़ेगा। तथा पूर्व जन्म की कमाई उसे बुद्धियोग द्वारा (सुनने और देखने मात्र से) पुनः मिल जायगी जहाँ से आने की तैयारी उसे एक मौका फिर मिल सकता है।

यदि योगी संग तथा अहंकार दोनों पर विजय प्राप्त कर ले तो संयम द्वारा प्राप्तत्व परचित्तादि ज्ञान तथा अणिमादि सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जायगीं और विवेक ख्याति के अभ्यास द्वारा विशोका ज्योति से लेकर परवैराग्य पर्यन्त प्राप्तव्य अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि से जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। गोस्वामी जी ने स्पष्ट कहा है—

जो निर्विघ्न पन्थ निर्बहई।
सो कैवल्य परमपद लहई।।
अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।
सन्त पुरान निगम आगमवद।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने योगारूढ़ शिष्य अर्जुन को इसलिए उपदेश दिया कि अभिमान तथा संगदोष को जीत का कामना रहित बन कर द्वन्द्वों को सहन करे तभी अव्यय पद प्राप्त होगा।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्।।
(गीता १५/५)

अर्थात् जो मोह तथा अभिमान से रहित है तथा जिन्होंने सङ्गदोष को जीत लिया है, तथा आत्मस्वरूप में नित्य समाधिस्थ है तथा जिनकी समस्त कामनायें नष्ट हो गई हैं वे सुख-दु:ख नामक द्वन्द्वों से मुक्त ज्ञानीजन अविनाशी अमर पद को प्राप्त होते हैं। इसलिए लोक और परलोक के जीवन में सफलता चाहने वाले साधकों को अपने मन में योगेश्वर श्री कृष्ण का यह सूत्र 'मुक्त सङ्ग: समाचर' अर्थात् सङ्ग त्यागकर चल, — सदा स्मरण रखना चाहिए तथा वीतराग महापुरुषों की कृपा के सहारे अगम पन्थ पर चलने का प्रयत्न करने में कल्याण निहित है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परम पूज्य गुरुदेव! कृपा करके यह बतलाइये कि श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग में क्या अन्तर है और इन दोनों में कौनसा श्रेष्ठ है?

उत्तर : प्रिय सौम्य! श्रेयमार्ग का अर्थ है कल्याण का रास्ता–आत्मोद्धार का रास्ता और प्रेयमार्ग का अर्थ है सांसारिकता। अर्थात् जीव को बन्धन में डालने वाला रास्ता, वह रास्ता यद्यपि कल्याणकारी नहीं है फिर भी सांसारिक लोगों को प्रिय है। अत: उसे प्रेयमार्ग कहा जाता है। इन दोनों में श्रेयमार्ग ही श्रेष्ठ है। क्योंकि श्रेयादधानस्य साधु भवति हीयते अर्थात् य उ प्रेयो वृणुते।

जो व्यक्ति श्रेयमार्ग का वरण करता है उसका कल्याण हो जाता है और जो प्रेयमार्ग पर चलता है वह परमार्थ से गिर जाता है।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! तो फिर यह भी बतलाने की कृपा कीजिये कि प्रवृत्ति मार्ग किसे कहते हैं और निवृत्ति मार्ग किसे कहते हैं तथा हम सांसारिक लोगों के लिए कौन सा मार्ग सही है?

उत्तर : सौम्य! इन्द्रियों के बाह्य विषयों में प्रवृत्त होना अर्थात् आसक्तिपूर्वक लौकिक कार्य करना धन संग्रह करना, जमीन-जायदाद मकान, दास-दासी तथा अन्यान्य सुखोपभोग के साधनों को जुटाना एवं उनका उपभोग करना, कल-कारखाने आदि का निर्माण करना और विविध भौतिक साधनों के माध्यम से समाज में प्रतिष्ठित बनने की चेष्टा करना प्रवृत्ति मार्ग कहलाता है। इसके विपरीत इन सभी प्रकार के विषय भोगों का वैराग्यपूर्वक त्याग करना तथा इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाकर अन्तर्जगत में प्रवेश पाने के लिये प्रयत्नशील रहना निवृत्तिमार्ग कहलाता है। दूसरे शब्दों में प्रवृत्तिमार्ग ही प्रेयमार्ग कहलाता है और निवृत्तिमार्ग श्रेयमार्ग कहलाता है। कल्याण का मूल इसी मार्ग में निहित है। चाहे कोई साधु हो, विरक्त ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ हो अन्त में इसी निवृत्तिमार्ग को अपनाकर वह परम कल्याण का भागी बनता है। सांसारिक प्राणियों को चाहिए कि वे अपने आश्रमोचित कर्तव्य कर्मों को चाहिए कि वे अपने आश्रमोचित कर्तव्य कर्मों को करते हुए प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर होते जायें और निष्कामता को प्राप्त हो जायें। इस प्रकार वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी अपना आत्मोत्थान कर सकते हैं?

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! निष्कामता को प्राप्त होने से क्या अभिप्राय है और उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है?

उत्तर : वत्स! निष्कामता को प्राप्त होने का एकमात्र उपाय है कि मनुष्य जीवन भर पुण्यकर्मों को करता जाये किन्तु फल की इच्छा न रखे। इस सम्बन्ध में जगदात्मा श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है–

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त-
श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।

अर्थात् अज्ञानीजन जिन लौकिक कार्यों को जिस प्रकार आसक्ति पूर्वक फलेच्छा से करते हैं, विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह भी उसी प्रकार अनासक्ति भाव से लोकसंग्रह की इच्छा से कर्म करता चला जाये।

अत: मनुष्य को कर्म करना चाहिए। ईशोपनिषद का वचन है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समा:।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यतेनरे।।

अर्थात् मनुष्य को कर्तव्यपालन रूप कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए। इस प्रकार फल की इच्छा न रखते हुए कर्म करने वाला मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है और निष्कामता को प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति संसार में रहते हुए सभी प्रकार के सकाम कर्मों को तो करते हैं किन्तु साथ ही श्रद्धापूर्वक नियमानुवर्तिता से स्वाध्याय, ईश्वर भजन एवं लोकहित के विविध कार्यों को करते हैं वे भी शनै:-शनै: निष्कामता को प्राप्त हो जाते हैं और सिद्धयोग के अधिकारी बनकर सिद्धानुग्रह द्वारा कृतार्थ हो जाते हैं।

प्रश्न : हे वत्स सुनो! वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषों के वचनों में तथा परलोक में जो प्रत्यक्ष की भांति विश्वास है एवं उन सब में जो पूज्यता की भावना है उसी का नाम श्रद्धा है।

श्रद्धा का योग के साथ अटूट सम्बन्ध है। श्रद्धा के इस मार्ग में कदम भी नहीं जा सकता। योगदर्शन में समाधि प्राप्ति उपायों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि-प्रज्ञा पूर्वक्रतरेषाम्।

श्रद्धा से ही क्रमशः वीर्य अर्थात् साधन में शाह, स्मृति और समाधि की योग्यता की प्राप्ति होती है। यह बात श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में सिद्ध की है। जैसे-

तस्य हि श्रद्दधानस्य वीर्यमुपजायते, उपजात वीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते, तिरूपष्ठानात्तस्य चित्तमनाकुलं समायते।

इस प्रकार साधारण सांसारिक व्यक्ति भी के बल पर समाधि प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा के विषय में व्यासदेव जी का ही है—

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि कल्याणी जननीव योगिनं पाति।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता एवं साधन के प्रति आदर बुद्धि का नाम ही श्रद्धा है। वह योगी का हर प्रकार से कल्याण करती है और योगी का हर प्रकार से कल्याण करती है और माता की तरह कदम-कदम पर उसकी रक्षा करती है।

संसार में जितने भी भक्तात्मा योगी और ज्ञानी हुए हैं वे सभी श्रद्धा के बल पर ही लक्ष्य प्राप्ति में सफल हुए।

अखिल लोक नायक जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में श्रद्धा को ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन बतलाते हुए कहा है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शातिमचिरेणाधिगच्छति।।

श्रद्धावान्, साधनपरायण तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान को पाकर वह शीघ्र ही शाश्वत शान्ति को पा जाता है।

इस प्रकार श्रद्धा ही ज्ञान और योग का मूल है। श्रद्धा ही शाश्वत सुख और शान्ति का दाता है। बिना श्रद्धा के कुछ भी होना सम्भव नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता साधक— पूज्य गुरुदेव आज के सत्संग से तो आपने मुझ दास कौ निहाल कर दिया है। धन्य है, हे गुरुदेव! आप धन्य हैं। आपको बारम्बार प्रणाम हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अपने श्री मुखारविन्द से समत्व योग का उपदेश किया और उसमें अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में यह आदेश दिया कि–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:।।

अर्थात् हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान प्राणिमात्र के अन्दर सुख–दु:ख की अनुभूति करता है वह उत्तम माना गया है। इसका अर्थ इस प्रकार समझ लेना चाहिए जो बात हमें अच्छी नहीं लगती वह हम दूसरों के लिए भी न करें। तभी मनुष्य समबुद्धि बन सकता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उसके मन में एकाग्रता हो। जब तक मन में एकाग्रता नहीं आती तब तक मनुष्य स्थिति की स्थिरता को प्राप्त नहीं करता है। इसी बात को मद्देनजर रखकर के अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से यह प्रश्न शब्दों में किया—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त: साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।
चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

अथात् हे कृष्ण आपने जो समत्व योग का देश किया है, वह बिल्कुल ठीक है किन्तु बहुत ही चञ्चल है। चञ्चल होने से मैं की स्थिरता को नहीं देखता हूँ। यह मन इतना चञ्चल है कि हर व्यक्ति को पीस लेने वाला है। मैं समझता हूँ जिस प्रकार का बाँध लेना असम्भव है इसी प्रकार को बांध लेने का कार्य भी अत्यन्त दुष्कर हे प्रभो कृपा कर कोई ऐसा उपाय बतला जिससे मैं अपने पर वशीकार प्राप्त कर है।

सशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति:।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत:।।

अर्थात् हे अर्जुन! यह बिल्कुल ठीक ही है कि मन बहुत ही चञ्चल है। एवं नियन्त्रण से बाहर ही चलने वाला है किन्तु फिर भी अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा प्रयत्न करने पर इस पर नियन्त्रण किया ही जा सकता है। इसका निग्रह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा हो सकता है। जो लोग अपने आप पर नियंत्रण रखना चाहते हैं वे लोग अवश्य ही प्रयत्न करते–करते इस मन पर काबू पा जाया करते हैं। अत: मन पर काबू पाने के लिए अभ्यास और वैराग्य दो अचूक साधन हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! भगवान श्रीकृष्ण ने मन को वश में करने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य का उपदेश किया, किन्तु मैं नहीं जानता कि अभ्यास और वैराग्य का क्या स्वरूप है? ताकि मैं आपके उपदेशानुसार अभ्यास एवं वैराग्य दोनों साधनों को प्रयत्न करके अपने जीवन में घटाने का प्रयत्न करूँ।

उत्तर : हे वत्स सुनो! योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने अभ्यास एवं वैराग्य के स्वरूप को निम्नांकित सूत्रों में बतलाया है– आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने जिन अभ्यास और वैराग्य दो साधनों का अपनी गीता में उपदेश किया है, उन्हीं दो साधनों का उपदेश योगदर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने भी किया है। उस पूरे प्रकरण को हम तुम्हारे हित के लिए यहाँ उद्घृत करते हैं, जिससे तुम भली प्रकार समझ सको कि अभ्यास और वैराग्य का क्या स्वरूप है? भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट लिखा है कि चित्त निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की बहुत बड़ी आवश्यकता है। पढो पातञ्जलि योगदर्शन समाधि पाद सूत्र २२ में व्यास भाष्य सहित श्री पतंजलि जी का उपदेश—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध:।।

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

चित्त नदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च, या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेक–विषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा, तत्र वैराग्येण विषयस्रोत: खिलीक्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभया धीनश्चित्तृति निरोध:।।

अर्थात् चित्त नाम की नदी दोनों ओर से बहने वाली है। पाप और पुण्य दोनों ओर से बहने वाली हैं। जो कैवल्य प्राग्भारा है वह कैवल्य की ओर बहने वाली है। जो संसार की प्राग्भारा है वह संसार की ओर बहने वाली है। पाप के लिए बहती है। वहाँ पर पाप की ओर बहने वाली विषय

स्रोत को विवेक दर्शन का अभ्यास दिया जाता है। जिससे विषय स्रोत नष्ट हो जाये और विवेक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो बिल्कुल ठीक है आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने जिस अभ्यास और वैराग्य का गीता में उपदेश किया है ठीक वही बात पतञ्जलिदेव जी ने बतलाई है। किन्तु अभ्यास कहते किस बात को हैं?

उत्तर : हे पुत्र! देखो भगवान पतञ्जलिदेव जी ने अभ्यास का जो उपदेश किया है वह ही मैं तुमको बतलाता हूँ—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।।

व्यास भाष्य—

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्तदर्थः प्रयत्नौ=वीर्य्यमुत्साहस्तत्संपिपादयिषया तत्साधना-नुष्ठानमभ्यासः।

अर्थात् वृत्ति रहित चित्त की जो प्रशान्त वाहिका स्थिति है उसको प्राप्त करने के लिए जो यत्न किया जाता है व चित्त को शान्त करने के लिए जिन साधनों का अनुष्ठान प्रयत्नपूर्व किया जाता है, उसी को अभ्यास कहते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! वह अभ्यास कितने समय तक और कैसे करना चाहिए? किन नियमों से किया हुआ वह अभ्यास दृढ़भूमि अभ्यास बनेगा? कृपा कर ये सब मुझे समझाइये।

उत्तर : हे पुत्र देखो! इन सब बातों का उत्तर तो भगवान पतञ्जलिदेव जी ने स्वयं ही आगे के प्रकरण में दे दिया है। तुम उसको पढो और समझो, वह इस प्रकार से है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितोदृढ़भूमिः।

पढ़िये व्यास भाष्य—

दीर्घकाला सेवितः, निरन्तरासेवितः, तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्, दृढ़भूमि-र्भवति=व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थः।।

अर्थात् वह अभ्यास लम्बे समय तक करना चाहिए। साधक को यह चाहिए कि यदि अभ्यास शुरू कर दे तो चार छ वर्ष तक लम्बे समय तक करना चाहिए और उसके साथ-साथ लगातार नियम से करे। तत् ब्रह्मचर्य विद्या और श्रद्धा के साथ बराबर करता रहे जिससे उसका वह अभ्यास दृढ़भूमि बन जाये।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने अभ्यास के विषय को बहुत ही अच्छी तरह से समझाया। अब मैं इस विषय को भली प्रकार से समझ भी गया हूँ। कृपा करके मुझे वैराग्य की बातें समझाइये। वैराग्य कैसे किया जाता है? और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर : हे पुत्र! देखो वैराग्य के दो भेद हैं। उनमें से एक पर दूसरा अपर। अपर वैराग्य को भगवान पतञ्जलिदेव ने वशीकार संज्ञक नाम से कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयावितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।।

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमितिदृष्टविषय वितृष्णस्य स्वर्ग वैदेह्यप्रकृतिलयत्व प्राप्ता वानुश्रविक विषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोष दर्शिनः प्रसङ्ख्यान वलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकार सञ्ज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् देखे हुए और हुने हुए विषयों में का वितृष्ण हो जाना वशीकार संज्ञक वैराग्य कहलाता है। जैसे स्त्रियों में, अन्नादि के खान पान में और ऐश्वर्यादि में हमारा मन आसक्त रहा करता है, इसी प्रकार से स्वार्गादि लोक लोकान्तरों में, एवं विदेह प्रकृतिलीन योगियों के दिव्यादिव्य भोगों में भी विवेक ज्ञान के बल से विषय दोष-दर्शी चित्त की हेयोपादेय रहिता स्थिति को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं। अर्थात् विषयों में दोष दर्शन करता हुआ साधक इस लोक के देखे हुए विषयों में और स्वर्गादि के सुने हुए विषयों में आत्मज्ञान के बल से मनुष्य अपने मन पर नियन्त्रण करे तो वह अवश्य ही वशीकार को पा जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने बहुत अच्छा उपदेश किया। मैं भी अपने मन पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करने का प्रयत्न करूँगा। अब कृपा करके मुझे पर वैराग्य का स्वरूप और समझा दीजिए। जिससे मैं आपकी कृपा और आशीर्वाद को पाकर कल्याण के अन्तिम स्रोत को पहुँच सकूँ।

उत्तर : हे पुत्र सुनो! श्री पतञ्जलि जी महाराज ने पर वैराग्य का उपदेश इस प्रकार किया है, उसको सुनकर और समझ करके एवं समाधि के बल से अपने जीवन में घटाओ। उसी पर वैराग्य के प्राप्त हो जाने के बाद ही कैवल्य लाभ होगा। जिसके प्राप्त हो जाने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य अवशेष नहीं रहेगा। वह इस प्रकार है—

तत्परं पुरुषख्योतेर्गुणवैतृष्णयम्।।

पढ़िये व्यास भाष्य—

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्या-सात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्त-धर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं वैराग्यं, तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये प्रत्युदितख्याति-रेवस्मन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा

म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।। अर्थात् पुरुष ख्याति साधक के मन में गुणों के प्रति जो वैतृष्ण भाव आ जाता है, उसी को पर वैराग्य कहते हैं। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जो साधक देखे हुए, सुने हुए विषयों में वितृष्ण जो जाता है, वह आत्म-दर्शन का अभ्यासी बन जाता है, और विवेक-ज्ञान को प्राप्त हुई बुद्धि से, विवेक-ज्ञान से पवित्र हुई बुद्धि के द्वारां प्रकट एवं अप्रकट गुणों से विरक्त होता चला जाता है। अत: यह जो पर वैराग्य है यह ज्ञान का प्रसाद मात्र है। जिसके प्राप्त हो जाने पर योगी यह मान लेता है कि मैंने जो कुछ पाना था वह पा लिया। क्षय करने लायक क्लेशों को क्षीण कर दिया, पौरी दर पौरी जुड़े हुए संसार चक्र को काट दिया, जिसके न कटने से बार-बार जन्म लेना पड़ता था। अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा ही पर वैराग्य है, और इसका ही नान्तरियक स्वरूप कैवल्य कहलाता है। अर्थात् परवैराग्य ही कैवल्य का स्वरूप है। यह ही मुक्ति का मूल कारण है।

स्वरूपलय

योगी पहिले अपनी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे, फिर मन का करे, उसके बाद बुद्धि का साक्षात्कार और तदनन्तर आत्मसाक्षात्कार करे। किन्तु इस मार्ग में थोड़ी सी कठिनता है क्योंकि इन्द्रियों के सूक्ष्म धर्मों को समझना कठिन है। उससे भी बढ़कर मन और बुद्धि को समझना तौ और भी कठिन है। और आत्म-साक्षात्कार तो उससे भी बहुत आगे की वस्तु है। दूसरा मार्ग सर्व साधारण के कल्याणार्थ हमारे आचार्यो ने वह बताया जिस पर चलने से हर व्यक्ति अपना कल्याण कर ही सकता है। इस मार्ग का संकेत योगाचार्य भगवान् पांजजलि महाराज ने वीतराग विषयं वा चितम्'' कह कर किया है। अर्थात् वीतराग पुरुषों को हम अपना ध्येय बनाकर उनके मन में अपना मन, उनके चित्त में अपना चित्त, उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि और उनके अहंकार में अपना अहंकार विलीन कर दें तो थोड़े समय में ही समाधि-लाभ कर सकते हैं। उस स्थिति में उनकी उपार्जित सिद्धियाँ हमारी अपनी होंगी और कालान्तर में उनके स्वरूप में लय होकर हम कैवल्य-भाव को भी अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।